सीमित वितरण हेतु प्रकाशित

देखी सुनी

वर्ष 2012, अंक 21

अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस की शुभकामनायें।

प्रिय साथियों,

जेंडर व कानून से जुड़े संधर्षो तथा परिणामों को समर्पित इस अंक में शामिल हैं– महिलाओं के संपत्ति के अधिकार का विस्तार, बलात्कार व समलैंगिकता संबंधी कानून पर मानवीय नज़रिया, दलित अधिकार, गरीबी व मूलभूत सुविधाओं का मजाक उड़ाते आंकड़े तथा स्थिति, भारत में नारीवाद का इतिहास व कार्यस्थल पर जेंडर बराबरी का यथार्थ।

कृपया अपने सुझाव व प्रतिक्रियाओं से हमारा प्रोत्साहन व मार्गदर्शन अवश्य करें।

नीतू रौतेला
जागोरी संदर्भ समूह

भारत में नारीवाद की जमीन

मेधा

अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस संसार भर की महिलाओं का दिन है। एक ऐसा दिन है जब वे भाषा-बोली, नस्ल-धर्म, सरहद-सीमा के साथ-साथ आर्थिक, राजनीतिक विभेदों को भुला कर एकजुट हो अपने पर गर्व करती हैं। महिलाओं के लिए यह दिन समानता, न्याय और शांति के लिए किए गए अपने संघर्षों को देखने का भी दिन है, भविष्य के स्वप्न के लिए नई ऊर्जा से ओतप्रोत होने का भी दिन। अधिकारों की संघर्ष-यात्रा साझी है, लेकिन यह साझापन स्थानीय विशेषताओं के साथ है। ऐतिहासिक परिस्थिति की अलग जमीन पर खड़े होने के कारण भारतीय नारीवाद की प्रकृति पश्चिम के नारीवाद से भिन्न भी रही है।

भारतीय संस्कृति-चेतना में स्त्री की उपस्थिति 'शक्ति' के रूप में भी रही है। धार्मिकता के आवरण में स्त्री की शक्तिशाली छवि पितृसत्तात्मक संस्कृति में भी घुसपैठ कर जाती है। इससे स्त्री को एक पारंपरिक सांस्कृतिक स्थान मिलता है। यहां आधुनिक यूरोप के बौद्धिक इतिहास पर एक नजर डालना उपयोगी रहेगा।

असल में पश्चिम में 'स्व' की धारणा 'प्रतियोगी व्यक्तिवाद' से बद्धमूल रही है। रूसो ने कहा कि आदमी स्वतंत्र पैदा हुआ है, तब भी हर जगह बेड़ियों से जकड़ा हुआ है। थॉमस हाब्स ने मनुष्य को मूलतः स्वार्थी और बर्बर बताया। लॉक ने उसे स्वहितकामी बताया। जबकि भारत में दूसरे किस्म की दार्शनिक परंपराएं प्रभावी रहीं। यहां व्यक्ति बड़े सामाजिक समूह के एक हिस्से के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और व्यक्ति के अस्तित्व के लिए सहकार को जरूरी माना गया। व्यक्तिगत हित को व्यापक हित की संगति और अनन्यता में सोचा गया। परिणाम यह हुआ कि निजता का संकुचन व्यक्तिवाद में नहीं हुआ। व्यक्ति का विस्तार अन्य इकाइयों में हुआ।

आधुनिक पश्चिम में पितृसत्ता उद्योगवाद और पूंजीवाद के साथ अपने आधुनिक संस्करण में रूढ़ होती है और यहां प्रतियोगी व्यक्तिवाद का आत्मबोध विकसित होता है। भारत की न तो गति ऐसी रही है और न ही नियति। यहां पितृसत्ता अंग्रेजों द्वारा चलाई गई आधुनिकता की परियोजना और उसके बरक्स देशी समुदाय की राष्ट्रीयता की परियोजना के प्रभाव में अपना नवसंस्कार करती है। औपनिवेशिक आधुनिकता की परियोजना का प्रभाव अपनी जगह रहा; लेकिन आर्थिकी और राजनीति की मूलतः विकेंद्रित व्यवस्था की परंपरा ने यहां के 'निजताबोध' को सामुदायिक सहकार से विच्छेदित नहीं होने दिया।

भारत की ऐतिहासिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विभिन्नता से जन्मी परिस्थितियों के चलते ही भारत में नारीवाद की प्रकृति और प्रवृत्ति पश्चिम के नारीवाद से अलहदा रही है। इन्हीं भिन्नताओं के कारण पश्चिमी देशों में महिलाओं को नागरिक अधिकारों के लिए लंबा संघर्ष करना पड़ा है। पश्चिमी देशों की महिलाएं समान काम के लिए समान वेतन, मताधिकार, मातृत्व-अवकाश जैसे मसलों पर मोर्चा खोल कर लंबे समय तक संघर्षरत रहीं; जबकि भारतीय महिलाओं को मताधिकार और अन्य नागरिक अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो गए।

औपनिवेशिक राज ने अपने शासन की नैतिक और वैधानिक अनिवार्यता को साबित करने के लिए भारत की संस्कृति को निकृष्ट और भारतीयों को असभ्य और बर्बर बताया। स्त्री-पुरुष संबंध को सभ्यतागत श्रेष्ठता का पैमाना बताते हुए अंग्रेज यही मानते और कहते रहे कि भारतीय समाज में स्त्री की दशा बहुत हीन होने के कारण भारत सभ्यता के निचले पायदान पर है। इसके बरक्स देशी समुदाय की चिंतन-धारा अपनी गौरवमयी परंपरा के पुनराख्यान के जरिए गौरवशाली राष्ट्र का दर्जा पाने की कोशिश थी। अतीत के पुनर्संधान के इसी प्रयास में स्त्री-प्रश्न ने प्रमुखता पाई। कहा जा सकता है कि इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के तहत भारतीय नारीवाद के बीज का प्रस्फुटन होता है।

भारत में नारीवाद के इतिहास को तीन लहरों में बांटा जा सकता है। पहली लहर 1850 से 1915 तक, दूसरी लहर 1915 से 1947 तक, तीसरी लहर 1947 से आज तक। पहली लहर की शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में होती है, जब अंग्रेजों ने सती जैसी सामाजिक प्रथा की आलोचना की।

अंग्रेजों की औपनिवेशिक उपस्थिति ने भारतीय नारीवाद की प्रथम लहर के चरित्र को निर्धारित करने का काम किया। आधुनिकता की परियोजना के साथ ही भारत में लोकतंत्र, समानता और व्यक्ति-अधिकारों की अवधारणाएं आईं। राष्ट्रीयता की अवधारणा के उभार और जाति और लिंगाधारित विचारधारा के तहत किया जाने वाला भेदभाव समाज-सुधार का केंद्र बना। पहली लहर के नारीवाद की शुरुआत भारत में पुरुषों द्वारा की जाती है। बाद में इसमें स्त्रियां भी शामिल होती हैं। इसका मकसद सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना था। इसमें सती प्रथा का उन्मूलन, विधवा विवाह, बाल विवाह पर रोक, नारी निरक्षरता समाप्त करने जैसे लक्ष्य शामिल थे। इसके अलावा संपत्ति के अधिकार आदि के लिए संघर्ष हुए और इस दौर में स्त्रियों की दशा को सुधारने वाले कई कानून बने।

भारतीय नारीवाद की दूसरी लहर का दौर 1915 से लेकर 1947 तक माना जा सकता है, जब राष्ट्रीय आंदोलन ने महिलाओं को घर की चौहद्दी से निकाल कर सार्वजनिक सरोकारों से जोड़ा। इस दौर में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ संघर्ष काफी तेज हो चुका था। एक राष्ट्र के रूप में अपनी श्रेष्ठता साबित कर सांस्कृतिक पुनरुत्थान किया जा रहा था। इसके फलस्वरूप भारतीय स्त्रीत्व को भी परिभाषित किया जा रहा था।

यह स्त्री-छवि हिंदू धर्म के पाठों, विक्टोरियाई नैतिकता और मध्यवर्गीय आधुनिकता के घालमेल से बनी थी।

भारत की ऐतिहासिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विभिन्नता से जन्मी परिस्थितियों के चलते ही भारत में नारीवाद की प्रकृति और प्रवृत्ति पश्चिम के नारीवाद से अलहदा रही है। इन्हीं भिन्नताओं के कारण पश्चिमी देशों में महिलाओं को नागरिक अधिकारों के लिए लंबा संघर्ष करना पड़ा है।

यह वही दौर है, जब भारतीय नारीवाद के परिदृश्य पर स्वतंत्र महिला संगठन बने। ऑल इंडिया वूमेन कॉन्फ्रेंस और नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वूमेन का गठन इसी दौर में हुआ। अब भारत में नारीवाद का मुख्य सरोकार राजनीतिक भागीदारी, वोट का अधिकार आदि हो गए। 1920 का दशक भारतीय महिलाओं के लिए एक नया युग लेकर आया। इस युग का नारीवाद स्थानीय स्तर पर महिलाओं को नारीवादी सरोकारों से जोड़ने का दौर खासतौर से अभी तक उसे सार्वजनिक जीवन से दूर रखा गया था। लेकिन राजनीतिक फलक पर गांधी के पदार्पण ने भारतीय नारीवाद के चरित्र को भी प्रभावित किया। अहिंसक असहयोग आंदोलन में महिलाओं को शामिल कर गांधी ने उनकी गतिविधियों का विस्तार किया। त्याग, ममता, सहिष्णुता जैसे स्त्रैण कहे जाने वाले गुणों को अपने जीवन में अपना कर गांधी ने स्त्री-स्वभाव को सम्मान दिया और उन्हें श्रेष्ठ और सबल मूल्यों के रूप में स्थापित किया।

यह वही दौर है, जब भारतीय नारीवाद के परिदृश्य पर स्वतंत्र महिला संगठन बने। ऑल इंडिया वूमेन कॉन्फ्रेंस और नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वूमेन का गठन इसी दौर में हुआ। अब भारत में नारीवाद का मुख्य सरोकार राजनीतिक भागीदारी, वोट का अधिकार आदि हो गए। 1920 का दशक भारतीय महिलाओं के लिए एक नया युग लेकर आया। इस युग का नारीवाद स्थानीय स्तर पर महिलाओं को नारीवादी सरोकारों से जोड़ने का दौर साबित हुआ। स्थानीय महिलाओं के जुड़ाव से महिला-शिक्षा, कामगार महिलाओं के लिए बेहतर जीविकोपार्जन, नीतियों के निर्माण पर जोड़ दिया गया। साथ ही राष्ट्रीय स्तर की संगठनात्मक गतिविधियां भी चलती रहीं। गांधीजी के नेतृत्व में ऑल इंडिया वूमेन कॉन्फ्रेंस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़ा। इस दौर के नारीवाद ने राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद विरोधी स्वाधीनता आंदोलन के भीतर काम किया। इसी वजह से व्यापक पैमाने पर महिलाओं की भागीदारी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की खासियत बनी।

आजादी के बाद के नारीवाद को तीसरी लहर के रूप में देखा जा सकता है। इसकी शुरुआत कार्य-स्थलों और राजनीतिक दलों के भीतर स्त्रियों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार की मांग के साथ हुई। स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं की व्यापक भागीदारी ने उन्हें आजाद भारत में अपनी भूमिका और अधिकारों के लिए चेतनासंपन्न बनाया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय संविधान में महिला मताधिकार और महिला नागरिक अधिकार शामिल किए गए। संविधान में विधेयात्मक कदम, महिला और बाल कल्याण विधेयक, समान काम के लिए समान वेतन आदि का प्रावधान कर स्त्रियों की दशा में सुधार की व्यवस्था की गई।

राज्य ने महिलाओं के लिए संरक्षक की भूमिका ली। उदाहरण के लिए भारतीय संविधान में कहा गया है कि 'महिलाएं कमजोर वर्ग से आती हैं; इसलिए बराबरी के धरातल पर सक्रिय होने के लिए उन्हें सहयोग की जरूरत होगी।' इसीलिए पश्चिमी देशों की तरह यहां महिलाओं को बुनियादी अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। लेकिन जल्दी ही यूटोपिया समाप्त हो गया; जब बुनियादी अधिकार और लोकतंत्र की अवधारणा को सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधाराओं और संरचनाओं ने स्वीकार नहीं किया।

आजादी के बाद नारीवाद ने कार्यशक्ति के रूप में अपनी भूमिका को पुनर्परिभाषित किया। आजादी से पहले अधिकतर नारीवादियों ने श्रमशक्ति के क्षेत्र में लैंगिक विभाजन को तात्कालिक रूप से स्वीकार कर लिया था, उसे चुनौती देने की कोशिश नहीं की थी। उस दौर में स्वतंत्रता-प्राप्ति नारीवादियों का भी प्रमुख लक्ष्य था। नेहरू युग की समाप्ति और मोहभंग के दौर में नारीवादियों ने भी स्त्रियों की दशा पर पुनर्विचार शुरू किया। सातवें दशक में उन्होंने कार्यक्षेत्र में लैंगिक असमानता को चिह्नित किया और उसका प्रतिरोध किया। विरोध के एजेंडे में समान काम के लिए असमान वेतन का मसला तो था ही, महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों को अकुशल कामों का दर्जा देने का मुद्दा भी शामिल था। महिलाओं के श्रम को कमतर मानने को नारीवादियों ने चुनौती दी।

बीसवीं सदी के सातवें दशक का दौर वही था जब भारतीय नारीवाद में वर्ग-चेतना का प्रवेश होता है और अब मसला केवल स्त्री-पुरुष के बीच की असमानताओं का नहीं रह जाता है; बल्कि जाति, नस्ल, भाषा, धर्म और वर्ग जैसी शक्ति-संरचना के कारण स्त्रियों की विशेष दशा पर भी ध्यान जाता है। इसीलिए यह दौर नारीवादियों के लिए चुनौतीपूर्ण रहा। उन्हें अपने द्वारा की जा रही मांगों, बनाई जा रही नीतियों, चलाए जा रहे अभियानों को इस कदर सजाना-संवारना था कि एक महिला समूह के हित से किसी दूसरे महिला समूह के साथ असमानता न हो सके।

आर्थिक उदारीकरण और नव औपनिवेशिकता के दौर ने भारतीय महिलाओं के समक्ष नई तरह का चुनौती पेश की है। अंधाधुंध तरीके से प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे का दौर चल रहा है। विस्थापन के कारण समुदायों का विघटन हो रहा है। इस सब की सबसे गहरी मार महिलाओं और बच्चों पर पड़ रही है। इसीलिए आज देश के बहुतेरे इलाकों में जल, जंगल और जमीन की रक्षा के लिए महिलाएं संघर्षरत हैं। पर्यावरण और प्राकृतिक विरासत की रक्षा की एक धारा भारतीय नारीवाद को 'इकोफेमिनिज्म' से जोड़ती है। गौरा देवी और राधा भट्ट को इसी धारा की नारीवादी कहा जा सकता है।

मेधा पाटकर, शर्मिला इरोम से लेकर शमीम मोदी, सी के जानू, उल्का महाजन और दयामनी बारला तक के संघर्ष नारी-अस्मिता के स्वर न होते हुए भी भारत में नारीवाद की प्रकृति पर एक टिप्पणी हैं। यहां पूरे समाज को बनाने और पूरी प्रकृति को बचाने के संघर्ष में नारीवाद के देशज संस्करण का पल्लवन होता है। नारीवाद के इस देशज संस्करण का धर्म औपनिवेशिक आधुनिकता के प्रति सजग होने और उसके दबे-छिपे रंग-ढंग से पार पाने में है। देशज नारीवाद की समूह चेतना सजगता के क्षण-विशेष में नहीं, एक लंबी यात्रा में ही पाई जा सकती है।

अधूरा है आधी दुनिया का विज्ञान

भारत और विदेशों में पढ़ाने के अपने अनुभवों के आधार पर मैं यह कह सकती हूं कि इस बात की भरपूर संभावना है कि लड़कियां महिला प्रोफेसर और वैज्ञानिकों से सीधे-सीधे संवाद में ज्यादा सहज महसूस करती हैं। इस संदर्भ में आदर्श प्रतिमान और प्रेरणा की ताकत भी काम आ सकती है लेकिन केवल वही पर्याप्त असरकारक नहीं हो सकती

■ प्रो. सुजाता रामदोरई

ब्रिटिश कोलंबिया, कनाडा

अर्थशास्त्री और हार्वर्ड युनवर्सिटी के पूर्व अध्यक्ष लॉरेंस समर्स एक बार यह सुझाव देकर विवाद में फंस गए थे कि 'जन्मजात विभिन्नता' के चलते महिलाएं गणित और विज्ञान में पुरुषों के मुकाबले कम क्षमतावान ठहर जाती हैं। उनके इस कथन के बाद तो प्रतिक्रियाओं की जो झड़ियां लगीं, उसने पाठ को और दिलचस्प बना दिया। खैर, यह सवाल दूसरे तरीके से पूछना उपयुक्त रहेगा कि क्या महिलाएं विज्ञान व अनुसंधान के क्षेत्र में करिअर बनाने के लिए 'तैयार' हैं; कि क्या खासकर भारतीय समाज इस क्षेत्र में महिलाओं की उपस्थिति के लिए राजी है? भारत में महिलाओं के संदर्भ में उच्चरित किए जाने वाले 'सक्षमता' और 'सशक्तीकरण' शब्द संरक्षण और सहानुभूति के रूप में प्रायः भ्रम उत्पन्न करते हैं और यह विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं के साथ भी सच है।

पश्चिमी देशों में, सकारात्मक क्रियान्वयन के जरिये महिलाओं की मजबूत स्थिति के चाक-चौबंद हुए तीन दशक हो गए। कार्यस्थलों पर जेंडर समानता और विविधता वहां की पद्धतियों में बिना किसी शोर-शराबे के और सकारात्मक तरीके से अंतर्गुम्फित कर दी गई है। इस पर विमर्श की आवश्यकता ही नहीं कि इस प्रक्रिया में 'गुणवत्ता से समझौता' किया जाता है या नहीं। इसके बजाए वहां जोर इस पर दिया जाता है कि किस तरह सभी स्तरों पर कार्यस्थल पर अच्छा वातावरण बनाए रखते हुए सर्वोत्तम नतीजे सुनिश्चित किए जाएं। अब वह कार्यस्थल चाहे प्रयोगशाला हो, विभाग अथवा वर्ग और प्रशासनिक क्षेत्र।

शोधोपरांत एक फैलोशिप के लिए अपनी पहली जर्मनी यात्रा के दौरान मैं यह देख कर हैरान रह गई कि युनवर्सिटीज में कार्यस्थल पर जेंडर संतुलित परिवेश बनाने के लिए सहायता संरचनाएं किस तरह काम करती हैं। वहां पारिवारिक जीवन की शुरुआत के लिए आपको इसे या करिअर में से किसी एक का चुनाव करना आवश्यक नहीं है

भारत और विदेशों में पढ़ाने के अपने अनुभवों के आधार पर मैं यह कह सकती हूं कि इस बात की भरपूर संभावना है कि लड़कियां महिला प्रोफेसर और वैज्ञानिकों से सीधे-सीधे संवाद में ज्यादा सहज महसूस करती हैं। इस संदर्भ में आदर्श प्रतिमान और प्रेरणा की ताकत भी काम आ सकती है लेकिन केवल वही पर्याप्त असरकारक नहीं हो सकती। ग्रामीण और वंचित तबकों के बच्चे के दरवाजे तक प्रयोगशालाओं की सुगम पहुंच बनाने वाली एक गैर सरकारी संस्था में काम कर रही मेरी दोस्त ने मुझे बताया कि जो बच्चे सीमित बाहरी ज्ञान और संभावनाओं के प्रति अनजान होने के चलते खुद के ट्रक चालक या डाकिया ही बन जाने का ख्वाब पाले थे, वे संस्था से जुड़ने के कुछ दिनों के भीतर शिक्षक, वैज्ञानिक और अंतरिक्ष वैज्ञानिक तक बनने के अपने मंसूबों के बारे में खुलकर बोलने लगे।

ऐसे में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह का विज्ञान के क्षेत्र में महिलाओं की हिस्सेदारी बढ़ाने पर विचार करना इस बात का प्रमाण है कि नीति-निर्णय के सारे पहलुओं को और सामाजिक परिवर्तन को हाथ में हाथ डालकर चलने की आवश्यकता है; अगर हम अपने देश में महिलाओं का विज्ञान, अकादमिक और अनुसंधान क्षेत्र में वास्तविक कायापलट देखना चाहते हैं।

भारत और पश्चिमी देशों में विज्ञान के विषयों में छात्राओं की संख्या तेजी से बढ़ रही है। हालांकि यही तादाद वैज्ञानिक संस्थानों खासकर विज्ञान के शीर्षस्थ स्थानों पर देखने को नहीं मिलती। शोधोपरांत एक फैलोशिप के लिए अपनी पहली जर्मनी यात्रा के दौरान मैं यह देख कर हैरान रह गई कि युनवर्सिटीज में कार्यस्थल पर जेंडर संतुलित परिवेश बनाने के लिए सहायता संरचनाएं किस तरह काम करती हैं। वहां पारिवारिक जीवन की शुरुआत के लिए आपको इसे या करिअर में से किसी एक का चुनाव करना आवश्यक नहीं है। कार्यस्थल पर पेशेवर तरीके के पालना घरों का सरल किंतु खास सहायता-संरचनाएं बेशुमार असर डाल सकती हैं। अतिरिक्त अधिकारों को तर्कसंगत बनाना होगा और माता-पिता की छुट्टियों में ढील देकर, परामर्श सुविधाएं बढ़ाकर महिलाओं के लिए सुरक्षित कार्यस्थल मुहैया कराना होगा। ठीक इसी तरह, रचनात्मक राह के बारे सोचना महत्त्वपूर्ण है कि किसी महिला के उनकी उम्र के भिन्न पड़ावों पर अकादमिक संस्थाओं में प्रवेश में कोई बाधा न आए।

पश्चिम में शिक्षण संस्थानों के सूखते कोषों के चलते हम काफी संख्या में लोगों को, भारत या उन देशों में जहां की सरकारें विज्ञान के क्षेत्र में ज्यादा धन दे रही हैं, उधर का रुख करते देख रहे हैं। अकादमिक दंपति एक ही संस्थान और शहर में काम करना पसंद करते हैं। पश्चिम की कई युनवर्सिटी, जिनके पास ऐसे 'दो-संस्था' की समस्याओं के निराकरण के लिए पर्याप्त कोष नहीं है, उन्होंने इसकी इजाजत दे दी है कि अगर अकादमिक जोड़े के मूल विभाग को आपत्ति न हो तो वे सुविधानुसार युनवर्सिटी के सृजित एक पद को साझा कर सकते हैं।

हालांकि ये कदम संरचनाओं और क्रियाकलापों के माध्यम से अकादमिशियनों को सशक्त बनाने वाले हैं, वहीं सक्षम बनाने का एक और अहम किंतु कठिनाई से अमल में आने वाला उपाय है। ये अकादमिक जगत, नीति-निर्धारकों और निश्चित रूप से व्यापक समाज की मानसिकता से संबद्ध रखने वाले कदम हैं। इनसे कई स्तरों पर निबटना है। भारत जैसे देश में जहां कन्या के सुरक्षित जन्म और जीवन की कोई गारंटी नहीं है, वहां महिलाओं की क्षमताओं के बारे में, खास कर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में, जागरूकता बढ़ाने का काम दुष्कर किंतु लभ्य है। यह बताते हुए कि महिलाओं के अवदानों का प्रेरणास्पद मूल्य है। छोटे शहरों की कई छात्राएं को अपने घर से दूर जाकर विज्ञान जैसे क्षेत्र अकादमिक करिअर बनाने के सवाल पर परिवार का विरोध झेलना पड़ता है। ऐसे मामलों में उनके परिजनों के लिए कई चरणों में परामर्श केंद्र की सहायता दिलानी होगी।

नीति-निर्माण के स्तर पर भी, यह महत्त्वपूर्ण है कि स्टाफ कमेटी में दोनों जेंडरों और भिन्न धार्मिक समुदायों के लोगों शरीक हों ताकि सभी तरह के अनुभवों और पक्षों को सुना जा सके। प्रक्रियागत विफलता के निरपेक्ष मूल्यांकन के लिए अकादमिक समुदाय के अंतर्गत एक निष्पक्ष और पारदर्शी प्रणाली का होना महत्त्वपूर्ण है। *लीलावतीज डॉटर्स* किताब में एक दिलचस्प कहानी है, जिसमें एस. रंगनाथन अपनी दिवंगता पत्नी दर्शन रंगनाथन के बारे में भाव विह्वल हो कर कहते हैं, 'वह एक सितारा थीं। वह नायाब रसायनशास्त्री थीं। वह हर तरह से मुझसे श्रेष्ठतर थी। लेकिन सर्वोत्कृष्टता के बावजूद नौकरी नहीं पा सकीं जबकि उन्हें काम करने से मुझे कोई ऐतराज नहीं था।'

महिला वैज्ञानिकों, शिक्षकों और अकादमिक बिरादरी युवा छात्राओं का इस क्षेत्र में भविष्य संवारने के लिए संरक्षक की अहम भूमिका निभा सकती है। उन्हें जुड़ाव की अहमियत पहचाननी चाहिए। पश्चिमी देशों में अंतर-स्नातक छात्राओं की प्रतिभा-प्रोत्साहन को लक्ष्य करके कई महिला संगठन समय-समय पर वैज्ञानिक विषयों पर सेमिनार और कार्यशालाओं का आयोजन करते हैं। वहां छात्राओं को विशेष अध्येयतावृत्ति (फैलोशिप) खास कर यात्रा अनुदान दिया जाता है। इन उपायों ने प्रणाली में अंतर्निहित असमानताओं को दूर करने का काम किया है। भारत में भी वैज्ञानिक खोज में महिलाओं को सभी स्तरों पर समान हैसियत की सहयोगी मानने में देर नहीं लगेगी, अगर इस लक्ष्य की दिशा में सोच और व्यवहार को मिलाते हुए सार्थक कदम उठाए जाएं।

(लेखिका कनाडा जाने से पहले टीआईएफआर में गणित की प्रोफेसर रह चुकी हैं)

■ (साभार : इंडियन एक्सप्रेस)

स्त्रियों को सिर्फ प्रशिक्षण नहीं अवसर भी चाहिए

अंजलि सिन्हा

लेखिका स्त्री अधिकार संगठन से संबद्ध हैं।

यूजीसी ने यह स्वीकार किया है कि उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रभावी जगहों पर महिलाओं की भागीदारी कम है तथा इसे जेंडर बराबरी के प्रोजेक्ट से जोड़ते हुए इसे दूर करने के लिए विश्वविद्यालय-कॉलेज प्रमुखों और प्रबंधन से कदम उठाने के लिए कहा है।

हाल में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की पहल पर जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय के कुलपति की तरफ से सभी उच्च शिक्षण संस्थाओं के मुखियाओं को पत्र भेजा गया है। यह पत्र उच्च शिक्षण संस्थानों में उच्च पदों पर आसीन महिलाएं या प्रबंधन में महत्वपूर्ण पदों पर काम करने वाली महिलाओं के लिए क्षमतावृद्धि कार्यशालाओं को संचालित करने के बारे में है। इसी सिलसिले में जामिया की तरफ से प्रतिभागियों से प्रविष्टियां आमंत्रित की जा रही हैं। यूजीसी के मुताबिक भारतीय विश्वविद्यालयों तथा कॉलेजों में महिलाओं का प्रतिशत नेतृत्वकारी एवं निर्णय लेने वाले पदों पर बहुत कम है।

अनुदान आयोग ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वह जेंडर बराबरी तथा उच्च शिक्षण संस्थाओं में नीतिगत स्तर पर महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने का प्रयास करेगा। इसी प्रयास के तहत उक्त प्रकार के कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं। यह कार्यक्रम 24 से 28 अप्रैल 2012 को जामिया में होने वाला है।

दरअसल, अनुदान आयोग की तरफ से इस प्रकार की योजना पर विचार 1997 में ही शुरू हो गया था और 1998 में ट्रेनिंग मैन्युअल तैयार करने का काम आयोग ने हाथ में लिया था। इसके बाद 2003 से देशभर के कुछ शिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षण भी आयोजित होता रहा है।

इस प्रोजेक्ट के प्रभाव आदि का मूल्यांकन यूजीसी स्वयं करती ही होगी तथा उसमें जरूरी बदलाव भी होते होंगे। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि यूजीसी ने एक तो स्पष्ट तौर पर यह स्वीकार किया है कि उच्च शिक्षण संस्थानों में निर्णयकारी तथा प्रभावी जगहों पर महिलाओं की भागीदारी कम है तथा इसे जेंडर बराबरी के प्रोजेक्ट से जोड़ते हुए इस कमी को दूर करने के लिए विश्वविद्यालयों तथा कॉलेज प्रमुखों और प्रबंधन से कदम उठाने के लिए कहा है।

भारतीय रेल अपने यहां महिला कर्मचारियों की संख्या पर बेहद उदासीन दिखता है। समय बदलने के साथ हर क्षेत्र से जेंडर भेदभाव को समाप्त करना आज की प्रमुख जरूरत बन गई है और वह सिर्फ वायदों से खत्म नहीं होगा। सार्वजनिक दायरों की सभी नौकरियों में संबंधित विभाग उनका प्रतिनिधित्व कैसे सुनिश्चित करते हैं, यह अहम मुद्दा है। हाल ही में रेलवे की भर्ती नीति और रेलवे महिला कर्मचारियों की स्थिति पर संसद की स्थायी समिति में गंभीर सवाल उठाए गए हैं। किसी भी प्रकार के आरक्षित सीट के लिए हमेशा यही कहा जाता है कि योग्य उम्मीदवार मिले ही नहीं।

समिति ने इस बात को सिरे से खारिज कर दिया कि देश में उम्मीदवार नहीं हैं। इतना ही नहीं रेलवे पुलिस फोर्स में भी 8 हजार पद खाली हैं। स्थायी समिति की तरफ से रेल मंत्रालय को सलाह दी गई है कि वह अपने यहां महिला कर्मचारियों की संख्या बढ़ाने के लिए पर्याप्त कदम उठाए। पुलिस विभाग का ही उदाहरण देखें, यहां पूरा पौरूषीय वातावरण है, जिसमें महिला कर्मचारियों के लिए तो असहज स्थिति होती है, साथ ही पीड़ित औरत भी थानों में जाने की हिम्मत नहीं जुटा पाती है।

अगर हम शिक्षा संस्थानों में अहम पदों पर स्त्रियों की उपस्थिति के मसले पर लौटें तो मुद्दा यह भी है कि ऐसी भागीदारी बढ़ाने के लिए प्रशिक्षणों तथा कार्यशालाएं भी काफी नहीं है। इस अनुपस्थिति की वजह यह नहीं है कि वे सक्षम नहीं हैं, उन्हें सक्षम बनना है बल्कि अवसर देने वाली बात ज्यादा अहम है। यूं तो प्रशिक्षित होकर अधिकाधिक सक्षम होते जाने में कोई समस्या नहीं है, लेकिन वह तो अवसर मिलने के बाद गुणवत्ता बढ़ाने वाली बात है।

हाल में दिल्ली सरकार ने घोषणा की थी कि हर स्कूल में एक समिति का गठन किया जाएगा, जिसमें अभिभावक भी होंगे। उसमें महिलाओं की भागीदारी 50 प्रतिशत होना अनिवार्य होगा। इन सबके बावजूद प्रबंधन में भागीदारी जांचने वाली बात है। पिछले दिनों देश में महिला वैज्ञानिकों की कमी पर भी चिंता जताई जा चुकी है।

anjali.sinha1@gmail.com

औरत की स्थिति में सुधार का प्रस्ताव

अलका आर्य

लेखिका स्वतंत्र पत्रकार हैं।

योजना आयोग संपत्ति के अधिकार के संदर्भ में एक ऐसा कानून चाहता है, जिसमें पति-पत्नी के बीच अलगाव होने या परित्याग की सूरत में दोनों के बीच कुल संपत्ति का बंटवारा बराबर हो। ऐसा कानून बने, जिसमें संपत्ति पर दोनों का समान अधिकार हो।

हाल में योजना आयोग ने एक ऐसा प्रस्ताव रखा है, यदि उसे सरकार ने मान लिया तो भारतीय समाज में न सिर्फ स्त्री की सामाजिक-आर्थिक हैसियत बढ़ेगी, बल्कि वह पति-पत्नी के रिश्ते में आमूल परिवर्तन भी ला सकता है।

योजना आयोग का वीमेंस एजेंसी एंड एमपॉवरमेंट नामक वर्किंग ग्रुप संपत्ति का अधिकार संबंधी एक ऐसा समग्र कानून चाहता है, जिसमें पति-पत्नी के बीच अलगाव होने या परित्याग की सूरत में दोनों के बीच कुल संपत्ति का बंटवारा बराबर-बराबर हो।

एक ऐसा कानून हो, जिसके तहत पति और पत्नी जो भी संपत्ति चाहे वह चल हो या अचल हासिल करें, उस पर दोनों का समान अधिकार हो। वह जायदाद साझा जायदाद होगी। इस कानून के दायरे में सिर्फ वैवाहिक जोड़े ही नहीं होंगे, बल्कि लिव इन रिलेशनशिप भी इसमें शामिल रहेगा और यह सभी समुदायों पर लागू होगा। इस पैनल के मुताबिक पारिवारिक कानूनों की समीक्षा होनी चाहिए और कानून में स्त्री को पति के समान भागीदारी वाली पहचान मिलनी चाहिए।

दरअसल, ऐसे कानून की दरकार लंबे समय से महसूस की जा रही है। अगर योजना आयोग के प्रस्ताव पर अमल हुआ और कानून बन गया तो औरतों को कितना लाभ होगा, बहस का एक पहलू यह भी है। विवाह नामक संस्था की एक कड़वी हकीकत यह है कि विवाह के बाद पति और पत्नी कहने को बराबर के भागीदार हैं, मगर सच यह है कि दोनों की आर्थिक हैसियत एक सी नहीं होती, आर्थिक विषमता बनी रहती है और यह विषमता औरत के सामाजिक दर्जे पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

हिंदू विवाह कानून 1955 में लागू हुआ और 2003 तक इसमें कई संशोधन भी किए जा चुके हैं। पितृसत्तात्मक/पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था विवाह नामक संस्था में पत्नी को पति के बराबर आर्थिक अधिकार देने से रोकती है। औरतों के प्रति ऐसी सामाजिक जड़ता की कीमत उन्हें ही सबसे अधिक चुकानी पड़ती है। दहेज के नाम पर औरतों से उनका संपत्ति में अधिकार छीन लिया गया। यह एक तरह की स्त्री विरोधी साजिश ही है। अंग्रेजी शासन के दौरान भूमि बंदोबस्त अभियान व संपत्ति संबंधी कानूनों में बहुत से स्त्री विरोधी फेरबदल किए गए।

प्रमुख बदलाव मातृवंशी परिवारों को पितृवंशी संपत्ति वितरण प्रणाली की ओर धकेलना और परंपरागत सामूहिक पारिवारिक संपत्ति को निजी संपत्ति में बदल दिया जाना था। दहेज, प्रति 1000 बालकों पर 914 बालिकाओं का आंकड़ा समाज में उनकी कमजोर स्थिति को दर्शाता है। महिलाओं के नाम पर कितनी कम संपत्ति होती है, यह तथ्य जगजाहिर है।

योजना आयोग के विशेषज्ञों का भी मानना है कि औरत को मालिकाना हक देने से इंकार करना भी देश में महिलाओं के हीन दर्जे का एक प्रमुख कारण है। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना का एक फोकस महिलाओं को मालिकाना हक दिलाने के लिए प्रोत्साहित करना भी था।

बेशक देश के विभिन्न राज्यों में औरत के नाम पर मकान खरीदते वक्त स्टैंप ड्यूटी में कुछ रियायत देने वाला प्रावधान भी है, मगर यहां सवाल सारी वैवाहिक संपत्ति में पत्नी को पति के समान अधिकार दिलाने का है। यह अधिकार दो पहिए वाले वाहन में भी बराबर का होगा तो कार में भी। हर वो संपत्ति जो विवाह के बाद खरीदी गई है, वह साझा संपत्ति के नाम से वर्गीकृत होगी।

ऐसे अधिकार की मांग ने वर्ष 2004 के आस-पास जोर पकड़ा, जब संपत्ति में महिला अधिकारों को इस नजरिए से समझने की कोशिश की गई कि औरत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए वैवाहिक संपत्ति में समानता के सिद्धांत को कानून के जरिए लागू करवाना एक असरदार औजार साबित होगा।

कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी ने 17 मार्च 2011 को लंदन में आयोजित 'वीमेन एज एजेंट ऑफ चेंज' नामक विषय पर बोलते हुए देश के महिला आंदोलन के योगदान की तारीफ की थी। उन्होंने कहा कि देश के महिला आंदोलन ने दहेज, महिला हिंसा, घरेलू श्रम व संपत्ति अधिकारों में भेदभाव करने वाले रिवाजों के खिलाफ अभियान छेड़ा और इन्हीं अभियानों की बदौलत कई सुधारवादी कानून बने। योजना आयोग का नया प्रस्ताव भी रेडिकल बदलाव की ओर इशारा कर रहा है। इसका काफी प्रभाव पड़ेगा।

alkaarya2001@gmail.com

'सभी महिलाओं को मिलना चाहिए पति की संपत्ति में अधिकार'

जनसत्ता ब्यूरो

नई दिल्ली, 25 मार्च। तलाक के बाद हिंदू महिला को पति की संपत्ति में हिस्सेदार बनाने के कानून का देश में व्यापक स्तर पर स्वागत हुआ है। लेकिन साथ ही इसे केवल हिंदू महिलाओं तक सीमित किए जाने से इसे भेदभाव के तौर पर भी देखा जा रहा है। समाज के विभिन्न वर्गों की राय है कि इस तरह का अधिकार सभी महिलाओं को दिया जाना चाहिए। महिलाओं के कल्याण की चिंता करते समय सरकार को धर्म, क्षेत्र, जाति, भाषा और नस्ल आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करना चाहिए।

गीता मर्मज्ञ, दार्शनिक और चिंतक शिवानंद चाहते हैं कि इस तरह का कानून हिंदू-मुसलमान, जैन, सिख, बौद्ध, पारसी और ईसाई सभी महिलाओं के लिए बनाया जाना चाहिए। सरकार को किसी के भी कल्याण का कानून बनाते समय लिंग अथवा धर्म का भेद नहीं करना चाहिए। आदर्श कानूनी व्यवस्था वही होती है, जिसमें सबके लिए एक समान कानून लागू हो। संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों में भी समान कानून की बात ही प्रतिपादित की गई है। देश में केवल गोवा ही अकेला राज्य है, जहां सबके लिए एक समान कानून लागू है।

सुप्रीम कोर्ट के वकील डाक्टर मदन शर्मा मानते हैं कि तलाक के बाद स्त्री को पति की संपत्ति में अधिकार का कानून बनाने का सरकार का फैसला तो पूरी तरह ठीक है पर इसकी ज्यादा आवश्यकता मौजूदा सामाजिक परिस्थितियों में मुसलमान महिलाओं को है। हिंदू महिलाएं तो अब कामकाजी हो रही हैं और कमाने लगी हैं पर मुसलमान महिलाओं की स्थिति तो आज भी सबसे ज्यादा दयनीय है। अगर सरकार वाकई महिलाओं के हितों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को साबित करना चाहती है तो उसे यह कानून सभी महिलाओं के लिए लागू करना चाहिए।

दीवानी मामलों के वरिष्ठ वकील चौधरी नरेंद्रपाल सिंह को भी कानून में धर्म के आधार पर भेदभाव किया जाना लोकतंत्र की व्यवस्था के प्रतिकूल लगता है। वे कहते हैं कि इस्लामी देशों तक में मुसलिम महिलाओं के अधिकार भारतीय मुसलिम महिलाओं से बेहतर हैं। पाकिस्तान तक में जब तक पहली पत्नी रजामंद न हो कोई मुसलमान दूसरी शादी नहीं कर सकता। सो, पति की संपत्ति में तलाक की सूरत में मुसलमान महिला को भी अधिकार दिया जाना चाहिए।

महिला अधिकारों के लिए पिछले 26 साल से काम कर रहे गैरसरकारी संगठन उत्तर प्रदेश महिला मंच की महासचिव ऋचा जोशी भी महिला अधिकारों के लिए बनाए जाने वाले कानूनों को हिंदू-मुसलमान और सिख-ईसाई के चश्मे से देखने के खिलाफ हैं। वे चाहती हैं कि महिला को सिर्फ महिला मानना चाहिए। उसकी पहचान धर्म, जाति या इलाके के हिसाब से नहीं की जानी चाहिए। पर्यावरण के क्षेत्र में सक्रिय गैरसरकारी संगठन जनहित फाउंडेशन की निदेशक अनीता राणा को हैरत है कि सरकार महिलाओं के लिए कानून बनाते समय भेदभाव करती है। देश में जब परिस्थितियां सब महिलाओं के लिए एक समान हैं तो सबको कानूनी अधिकार भी एक समान ही दिए जाने चाहिए।

गौरतलब है कि केंद्रीय मंत्रिमंडल ने शुक्रवार को हिंदू विवाह कानून में संशोधन का फैसला किया था। जिसके तहत तलाक की स्थिति में हिंदू महिला पति की संपत्ति में हिस्सेदार बन जाएगी। हालांकि कितना हिस्सा दिया जाए, इसका फैसला हर मामले में अदालत परिस्थितियों के हिसाब से करने को स्वतंत्र होगी। विवाह कानूनों के मामले में आज भी मुसलमान महिलाओं को हिंदू महिलाओं के बराबर अधिकार नहीं हैं। सुप्रीम कोर्ट ने शाहबानो मामले में प्रतिपादित किया था कि मुसलमान महिला को भी तलाक की स्थिति में पति से गुजारा भत्ता पाने का अधिकार है। इस फैसले का मुसलमान संगठनों ने घोर विरोध किया था। जिसके बाद राजीव गांधी सरकार ने कानून में बदलाव कर सुप्रीम कोर्ट के फैसले को बेअसर कर दिया था।

संपत्ति में यह कैसी हिस्सेदारी !

विमर्श

राजकिशोर

ऐसा लगता है कि हमारे देश में हिंदू समाज की विवाहित महिलाओं की स्थिति सुधरनेवाली है। केंद्रीय मंत्रिमंडल ने हिंदू विवाह कानून में कई संशोधनों को मंजूरी दे दी है। इनमें से एक संशोधन यह है कि तलाक की स्थिति में पत्नी को पति की संपत्ति में हिस्सा मिलेगा। यह एक बहुत ही जरूरी संशोधन माना जा रहा है लेकिन मुश्किल यह है कि यह संशोधन अकेले बहुत दूर तक जानेवाला नहीं है। दरअसल, इसने जो अनेक प्रश्न पैदा कर दिए हैं, उनमें से एक का भी समाधान इस संशोधन में नहीं दिखता है। संतोष की बात बस इतनी भर है कि वैवाहिक जीवन में नर-नारी समता का प्रश्न विचार-विमर्श के दायरे में आ गया है, अन्यथा अभी तक तो इसे विचार-योग्य ही नहीं समझा जाता था।

गोवा के वैवाहिक कानून में व्यवस्था है कि विवाह के बाद अर्जित की गई सारी संपत्ति पति-पत्नी, दोनों की हो जाती है। और समानता का यह अधिकार प्रत्येक महिला को विवाह संम्पन्न होने के तुरंत मिल जाता है। इसके लिए उसे तलाक की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है। हम उम्मीद कर रहे थे कि भारत सरकार गोवा के इस आदर्श विवाह कानून को मुल्क भर में लागू करने जा रही है। योजना आयोग की एक समिति का प्रस्ताव भी यही था लेकिन भारत सरकार आर्थिक सुधारों को लागू करने की जल्दी में भले ही हो, पारिवारिक और सामाजिक सुधार लागू करने की उसे कोई जल्दी नहीं दिखती है। अकसर तो यह भी होता है कि समाज सुधार के मामले में यदि वह एक कदम आगे बढ़ती है, तो एक कदम पीछे भी खींच लेती है। तलाक के बाद पति की संपत्ति में पत्नी के हिस्से की व्यवस्था करनेवाला यह संशोधन भी कुछ इसी किस्म का है।

सवाल यह है कि वैवाहिक जीवन के दौरान यदि पत्नी को संपत्ति में हिस्सेदारी का अधिकार नहीं है, तो तलाक के समय वह अचानक कैसे प्रगट हो जाएगा? जाहिर है, इस अधिकार का उपभोग केवल वही महिला कर पाएगी जिसने तलाक ले लिया है या जिसने तलाक दिया है। इस तरह, यह एक तरह से विदाई का उपहार, या विदाई की ठोकर भी सिद्ध हो जाता है। जब तक तलाक की नौबत नहीं आती, तब तक इस अधिकार का मतलब सिर्फ यह है कि पति-पत्नी में जिसके पास भी संपत्ति है, वह तलाक का निर्णय करने के पहले सौ बार सोचेगा। इस तरह, यह कानून मुख्यतः तलाक को और कठिन बनाने का काम करेगा और न चाहते हुए भी पति-पत्नी को जबरन एक दूसरे के साथ रहने के लिए मजबूर होना पड़ सकता है।

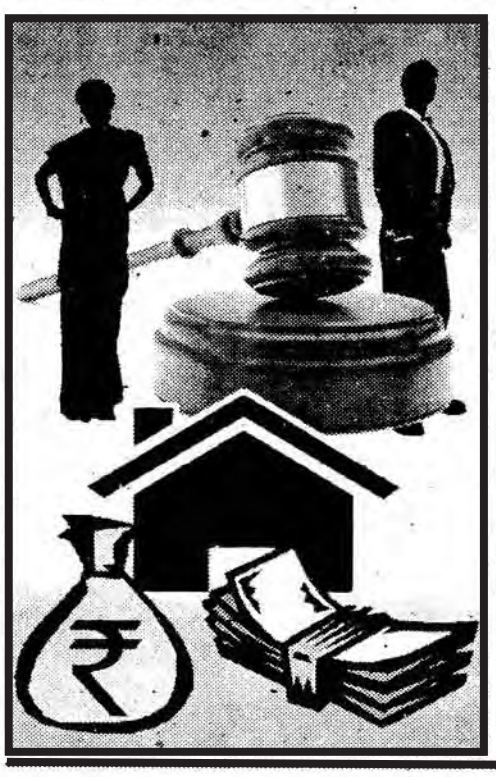

- केंद्रीय मंत्रिमंडल ने हिंदू विवाह कानून में कई संशोधनों को मंजूरी दे दी है। इनमें से एक संशोधन यह है कि तलाक की स्थिति में पत्नी को पति की संपत्ति में हिस्सा मिलेगा। यह बहुत ही जरूरी संशोधन माना जा रहा है लेकिन मुश्किल यह है कि यह अकेले बहुत दूर तक जानेवाला नहीं है
- सवाल यह है कि वैवाहिक जीवन के दौरान यदि पत्नी को संपत्ति में हिस्सेदारी का अधिकार नहीं है, तो तलाक के समय वह अचानक कैसे प्रगट हो जाएगा

विवाह के बाद पति और पत्नी जो भी संपत्ति हासिल या अर्जित करें, उस पर दोनों का समान अधिकार हो, यह एक स्वाभाविक सी बात है लेकिन वास्तव में यही नहीं हो पाता। विवाह के बाद पति-पत्नी तो एक हो जाते हैं पर उनकी आर्थिक हैसियत किन्हीं अर्थों में एक नहीं हो पाती। पति यदि घर-परिवार का राजा है तो वह राजा ही बना रहता है और पत्नी यदि रंक है तो वह रंक ही बनी रहती है। राजा के साथ विवाह होने पर निःसंदेह वह रानी की तरह रहने लगती है, लेकिन तभी तक जब तक राजा उस पर मेहरबान बना रहे। राजा के मुंह फेरते ही उसकी हालत किसी दासी जैसी हो जाती है, क्योंकि राजा के खजाने पर कानूनी तौर पर उसका कोई अधिकार नहीं होता।

विवाह को जो ऊंचा स्थान सभी धर्मों और समुदायों में दिया गया है, विवाह के पवित्र मंत्र जिन आदर्शों का बखान करते हैं, उसके साथ इस आर्थिक विषमता का कोई मेल नहीं है। परिणाम यह होता है कि विवाह होते तो स्वर्ग में हैं पर पति-पत्नी को अपना वैवाहिक जीवन अधिकतर, नरक में बिताना पड़ता है। इसलिए अगर विवाह संस्था को एक मानवीय संस्था बनाना है, तो हमें सब तरह की बराबरी पर विचार करना ही होगा।

नई व्यवस्था में, बेशक, तलाक के बाद जो स्त्री अच्छी आर्थिक हैसियत वाले परिवार की है तो उसका जीवन आर्थिक दृष्टि से कुछ सहनीय बन जाएगा, कुछ संम्पन्न बन जाएगा, लेकिन कितना? यह प्रस्तावित संशोधन में स्पष्ट नहीं किया गया है। गोवा के कानून में स्थिति पूरी तरह साफ है : 50 : 50। क्योंकि विवाह के बने रहते हुए भी अनुपात यही होता है। लेकिन भारत सरकार के प्रस्तावित कानून में, तलाक की हालत में पत्नी को पति की संपत्ति में कितना हिस्सा मिलेगा, यह फैसला अदालत पर छोड़ दिया गया है। अदालत की इस भूमिका से पेचीदगी पैदा होना अनिवार्य लग रहा है।

तलाक के निर्णय पर पहुंचने के पहले पत्नी यह तय नहीं कर सकती है कि विवाह विच्छेद के बाद उसकी आर्थिक हैसियत क्या होगी! और इस अस्पष्टता से उसे उचित निर्णय तक पहुंचने में दिक्कत हो सकती है। बेहतर है कि संसद ही इस अनुपात को तय कर दे। लोकतंत्र की मांग तो यही है कि 50:50 ही संपत्ति के विभाजन का मूल आधार हो। यह अदालत पर जरूर छोड़ा जा सकता है कि भविष्य में किस पक्ष के कंधों पर कितनी आर्थिक जिम्मेदारी आ रही है, इसे ध्यान में रखते हुए वह संपत्ति विभाजन के इस फार्मूले में कुछ फेरबदल कर सकती है। लेकिन अगर सब कुछ अदालत पर छोड़ दिया जाता है, तो पत्नी में वैवाहिक जीवन के दौरान बराबरी का वह एहसास पैदा नहीं हो सकता जो 50: 50 के प्रावधान से अपने आप आ जाता है।

इसका दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि तलाक के मुकदमे और लंबे खिंचेंगे। अभी तक तो तलाक पर विचार करने के पहले दोनों पक्षकारों को छह महीने तक का समय दिया जाता है कि वे शांति से सोच-विचार कर लें और हो सके तो आपस सुलह-समझौता कर लें। लेकिन ताजा संशोधन में अदालत को यह अधिकार दिया जा रहा है कि वह इस अवधि को कम भी कर सकती है या चाहे तो खत्म भी कर सकती है।

लेकिन संपत्ति के बंटवारे का मामला जुड़ जाने से तलाक की कानूनी प्रक्रियां का लंबा हो जाना अनिवार्य है। पति-पत्नी या उनके घर-परिवार का अब आधा समय इस सोच-विचार पर खर्च होगा कि तलाक देना ठीक रहेगा या नहीं और आधा समय इस पर कि किस पक्ष के पास कितनी संपत्ति है और उसके बंटवारे का आधार क्या हो! जाहिर है, ऐसी स्थिति में पति लोग पत्नी से अपनी संपत्ति के ब्यौरे छिपाने की तरकीबें निकालने की कोशिश करते दिखेंगे।

संपत्ति के विभाजन जितना ही महत्वपूर्ण पक्ष है, गुजारे की व्यवस्था का प्रश्न। यह एक जटिल मामला है। आज तक यह बात समझ में नहीं आ पायी है कि तलाक के बाद पत्नी को गुजारे की रकम क्यों मिलनी चाहिए! क्योंकि न तो पति बन कर कोई व्यक्ति अपनी पत्नी पर एहसान करता है और न पत्नी बन कर कोई महिला अपने पति पर एहसान करती है। इसलिए मेरी राय में पत्नी के भरण-पोषण की जिम्मेदारी एक अनर्गल रिवाज है। इससे पत्नी पति पर एक कानूनी बोझ बन जाती है। कायदे से, सबको अपनी रोटी खुद कमानी चाहिए। लेकिन विडम्बना है कि हम एक ऐसा भारत बनाना ही नहीं चाहते जिसमें हर आदमी अपनी रोटी खुद कमा खा सके।

इसलिए माना जा सकता है कि समाज में जब तक ऐसी स्थितियां नहीं आ जातीं, जहां सभी लोग चाहे स्त्री हो पुरुष, आर्थिक रूप से स्वनिर्भर हो सकें, तब तक आर्थिक दृष्टि से कमजोर पक्ष को राहत मिलनी ही चाहिए। लेकिन यह राहत उम्र भर के लिए नहीं हो सकती। इस दृष्टि से यह प्रस्तावित बदलाव स्वागत योग्य है कि तलाक की हालतें में पति-पत्नी के बीच आर्थिक समझौता हो सकता है। इससे एक ही बार में मामला निपट जाएगा। बेहतर होगा, यदि कानून में ही यह व्यवस्था कर दी जाए कि इस आर्थिक समझौते की न्यूनतम शर्तें क्या होंगी। वरना ताकतवर पक्ष कमजोर पक्ष को दबाएगा और समझौते की शर्तों को अपने अनुकूल बनाने में सफल हो जाएगा।

समाज में महिलाओं के साथ होने वाले अपराध एवं दंड

अपराध	भारतीय दंड संहिता की धाराएं	भारतीय दंड विधान
कत्ल	302	आजीवन कारावास
दहेज की वजह से मृत्यु	304-बी	आजीवन कारावास
आत्महत्या के लिए दबाव डालना	306	10 वर्ष
कत्ल करने की कोशिश	307	आजीवन कारावास
मारपीट, गंभीर चोट पहुंचाना	319, 323	3 माह से 7 वर्ष
ऐसे कार्य जिनमें दूसरों की सुरक्षा और जीवन पर खतरा उत्पन्न हो	344, 336, 338, 336, 325, 322	3 माह से 7 वर्ष
जानबूझकर दूसरों को गंभीर चोट पहुंचाना	340	7 वर्ष
नजरबंद रखना (साधारण या 10 दिन से अधिक)	344	3 वर्ष
औरत की शालीनता भंग करने की मंशा से हिंसा या जबरदस्ती करना	354	7 वर्ष
अपहरण, भगाना या औरत को शादी के लिए मजबूर करना	366	2 वर्ष
नाबालिग लड़की को कब्जे में रखना	366-ए	10 वर्ष
बलात्कार (सरकार कर्मचारी द्वारा या सामूहिक बलात्कार)	376	10 वर्ष उम्र कैद
विश्वास भंग करना या विच्छेद	405, 406	2 वर्ष से 10 वर्ष

दुष्कर्म की परिभाषा बदलने का समय

दुष्कर्म मामले की सुनवाई करते हुए अदालत ने सुझाव दिए

अमर उजाला ब्यूरो

नई दिल्ली। दुष्कर्म की परिभाषा को बदलने का समय आ गया है। अदालत दुष्कर्म को एक सीमा तक ही परिभाषित कर सकती है। किसी भी अपराध को परिभाषित करने और उसके लिए कानून बनाने का काम विधायिका का है। विश्व के कई देशों में दुष्कर्म को विस्तृत तरीके से परिभाषित किया गया है और अब समय आ गया है कि देश में भी इस कानून को विस्तृत तरीके से परिभाषित किया जा सके। इससे छोटी बच्चियों और बुजुर्ग महिलाओं के प्रति हो रहे शारीरिक शोषण पर न्याय दिलाया जा सकेगा। अदालत ने 80 वर्षीय बुजुर्ग महिला के साथ हुए डिजिटल रेप में दोषी को सजा सुनाते ये सुझाव दिए।

जिला न्यायालय रोहिणी स्थित अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश डॉ. कामिनी लॉ ने 80 वर्षीय महिला के साथ हुए डिजिटल रेप के मामले में दोषी को सजा सुनाते हुए टिप्पणी की। अदालत ने कहा कि दुष्कर्म को और विस्तृत तरीके से परिभाषित करने और कानून में बदलाव करने की जरूरत है। अदालत ने डिजिटल रेप, मेल रेप, ओरल रेप सहित रेप के कुछ अन्य तरीकों को दुष्कर्म के अंतर्गत लाने की वकालत की है। अदालत ने कहा कि अन्य देशों मसलन स्कॉटलैंड, आस्ट्रेलिया, विक्टोरिया, आयरलैंड और अमेरिका में दुष्कर्म को नए व विस्तृत तरीके से परिभाषित किया गया है। लिहाजा, अब समय आ गया है कि देश में इस अपराध की परिभाषा में बदलाव लाया जाए। मामले की सुनवाई के दौरान दिल्ली महिला आयोग की ओर से पेश अधिवक्ता ने भी हामी भरी। दिल्ली महिला आयोग ने अदालत के समक्ष कहा कि कोई कारण नहीं है कि दुष्कर्म और विस्तृत तरीके से परिभाषित न किया जाए। वहीं अदालत ने महिला को शीघ्र वृद्धा पेंशन देने के निर्देश दिए थे। अदालत ने कहा कि उपायुक्त के आदेश के बाद भी पीड़ित को वृद्धा पेंशन नहीं मिल पा रही है।

डिजिटल रेप के दोषी को दस वर्ष की कैद

डिजिटल रेप के दोषी युवक प्रहलाद (19) को अदालत ने अपहरण, कुकर्म और जान से मारने की कोशिश का दोषी पाते हुए दस वर्ष कैद की सजा सुनाई है। दोषी को बतौर जुर्माना 17 हजार रुपये देने के आदेश दिए गए हैं। जुर्माने की रकम में से 10 हजार पीड़ित मिलेंगे। साथ ही, दिल्ली सरकार को भी पीड़ित को 50 हजार रुपये मुआवजा देने के आदेश दिए गए हैं। पेश मामले के मुताबिक, पीड़ित को उसके परिजनों ने घर से निकाल दिया था। महिला त्री नगर के एक पार्क में बनी छतरी में रह रही थी। आसपास के लोग उसे खाना खिला देते थे। 20 मई-2011 की रात आरोपी युवक खींचकर महिला को साथ ले गया। उससे न सिर्फ जोर-जबरदस्ती की गई, बल्कि चोट भी पहुंचाई। दूसरे दिन अचेत हालत में महिला पार्क में मिली। ब्यूरो

नारीहंता दौर का मन और चलन

महिला असुरक्षा

अंजलि सिन्हा

बलात्कार की बढ़ती घटनाओं ने फिर से जनमानस उद्वेलित कर दिया है। खबर आई है कि अपने राज्य में स्त्री अत्याचार की घटनाओं को रोकने में नाकाम बंगाल की मुख्यमंत्री सुश्री ममता बनर्जी ने नाइटक्लबों को जल्द बंद करने का प्रस्ताव रखा है। कुछ समय पहले दिल्ली में दो दिन के भीतर बलात्कार की सात घटनाएं घटीं। नोएडा में नाबालिग छात्रा के साथ सामूहिक बलात्कार में जहां उसके साथ पढ़ने वाले छात्र तथा अन्य नौकरीपेशा लड़के शामिल थे, वहीं दूसरी छह घटनाओं में छह साल की बच्ची से लेकर एक छात्रा पीड़िताओं में शामिल है। इनमें एक बच्ची को हवस का शिकार बनाने के बाद सिगरेट से जलाया गया है तथा कई अन्य तरह के चोट पहुंचाए गए हैं, तो विवेक विहार वाली घटना में छात्रा के अपहरण एवं बलात्कार में उसका जीजा ही शामिल था। दिल्ली ही नहीं कोलकाता से लेकर इंदौर और चेन्नई तक हाल के दिनों में ऐसी कई घटनाएं सामने आई हैं।

इस दहशत भरे वातावरण में नाइंसाफी सिर्फ उनके साथ नहीं है, जो प्रत्यक्ष हिंसा की शिकार हुई हैं बल्कि पूरा स्त्री समाज इस भयाक्रांत वातावरण का शिकार हो रहा है। महिलाएं बार-बार इन घटनाओं के बारे में सोचकर भी पीड़िता का दर्द महसूस करती हैं। नोएडा में अत्याचार की शिकार अल्पवयस्क में या रोहिणी में अत्याचार के बाद आत्महत्या करनेवाली किशोरी में या बेटमा, इंदौर में परिचित के हाथों पीड़िता में अपने किसी आत्मीय की छवि देखने लगती हैं। और फिर उन्हें लगने लगता है कि वे कहां सुरक्षित हैं ? पार्टी के बहाने घूमने-फिरने से लेकर सार्वजनिक जगहों पर परिचित के बीच हर कहीं वे असुरक्षित हैं। घर के निजी दायरे में तो हिंसा के तमाम रूपों का शिकार स्त्रियां पहले से होती रही हैं। औरतों के खिलाफ होने वाली हिंसा में परंपरागत अत्याचार और गैरबराबरी तो पहले से मौजूद थे ही, अब यौनकेंद्रित गर्भपात से लेकर तकनीकी अपराध की शिकार भी वे हो रही हैं। मसलन, रेप के आरोपियों के पकड़ने के बाद भी उसका एमएमएस एक मोबाइल से दूसरे पर जा रहा है। ऐसे दृश्यों के जरिए गोया लोगों को अपने परिवेश में ऐसी ही हिंसा के लिए उकसाया जा रहा हो। कहा यह भी जाता है कि 24 घंटे हाजिर मीडिया का कमाल है कि ऐसी घटनाओं की रिपोर्टिंग अधिक हो रही है, मगर यह सचाई आंशिक है।

● नवम्बर 2011 में एनसीआरबी द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के मुताबिक विगत 40 सालों में महिलाओं के खिलाफ अत्याचारों की संख्या में 800 फीसद बढ़ोत्तरी हुई है

● वहीं इस दौरान अपराध साबित होने की दर लगभग एक तिहाई घटी है। उदाहरण के लिए 2010 में बलात्कार की 22,171 घटनाओं की रिपोर्ट दर्ज हुई, जिसमें अपराध साबित होने की दर महज 26.6 थी

● आखिर ऐसा क्यों है? आधुनिकता की तमाम छलांगों के बावजूद हमारा समय क्यों नारीहंता प्रतीत होता है

नवम्बर 2011 में नेशनल क्राइम रिकाड्‌र्स ब्यूरो द्वारा प्रकाशित आंकड़ों पर गौर करें तो वस्तुस्थिति साफ हो सकती है। ब्यूरो के मुताबिक विगत 40 सालों में महिलाओं के खिलाफ अत्याचारों की संख्या में 800 फीसद बढ़ोत्तरी हुई है, वहीं इस दौरान अपराध साबित होने की दर लगभग एक तिहाई घटी है। उदाहरण के लिए 2010 में बलात्कार की 22,171 घटनाओं की रिपोर्ट दर्ज हुई, जिसमें अपराध साबित होने की दर महज 26.6 थी।

प्रश्न पूछा जाना चाहिए कि आखिर ऐसा क्यों है? आधुनिकता की तमाम छलांगों के बावजूद हमारा समय क्यों नारीहंता प्रतीत होता है। दरअसल, औरत के प्रति पूरे नजरिया में बदलाव आना भी शेष है। स्त्रियां आज भी महज उपभोग की वस्तु हैं। आखिर ये बलात्कारी आसमान से तो नहीं टपके हैं ? उनके ऐसे विचार और सड़ी हुई मानसिकता कहां निर्मित हुई ? वे क्या अपनी कुंठाओं और भावनाओं पर नियंत्रण रखना चाहते भी हैं? कहने की दरकार नहीं कि वे तो दबंगता और स्वच्छंदता से कुछ भी हासिल कर लेने की इच्छा रखते हैं। वे मिलकर पहले षड्‌यंत्र रचते है, बजाप्ता प्लानिंग करते हैं और फिर शिकार पकड़ लाते हैं। बाद में जैसा व्यंवहार वे अपनी कल्पना में तैयार किए रहते हैं, वैसा ही करते हैं।

ऐसी घटनाओं में सीधे कृत्य में शामिल होने वालों के अलावा भी बड़ी संख्या में ऐसी मानसिकता वाले पुरुष हैं, जिनके लिए औरत सिर्फ एक सेक्स ऑब्जेक्ट है। वे बलात्कार नहीं भी करेंगे तो अपनी निगाहों से, हाव-भाव और भाषा से महिलाओं पर दबाव बनाते हैं, तनाव पैदा करते हैं और सामाजिक वातावरण को असुरक्षित कर देने के साथ ही प्रत्यक्ष हिंसा करने वालों को हौसला देते हैं। समाज के किस फैक्टरी में ऐसे शातिर दिमाग तैयार हो रहे हैं ?

साल भर पहले नोएडा में ही एक युवती के साथ उसके ब्वॉयफ्रेंड के सामने हुए बलात्कार के बाद पड़ोस के गांव के नवधनाढ्य माता-पिताओं की अपने इन होनहार बच्चों के बारे में प्रतिक्रिया याद रखने लायक है। उन्होंने कहा था आखिर उनके लड़कों का क्या दोष, उस लड़की को अपने यार के साथ रंगरलियां मनाते देख उनका मन मचल गया तो क्या हुआ ? जबकि पुलिस के मुताबिक इस घटना में उनके इन होनहार बहुत देर से उनका पीछा कर रहे थे। नोएडा के गैंगरेप वाली घटना में भी यह मुद्दा बनाया जा रहा है कि लड़की को शराब पिलाई गई या उसने खुद पी ? कोलकाता की घटना जिसमें नाइटक्लब से लौट रही महिला के साथ अत्याचार हुआ था, उसके बारे में जिम्मेदार कहे जानेवाले मंत्री ने पूछा कि वह रात को वहां गई क्यों थी ?

अगर लड़की ने खुद शराब पी तो क्या उसके साथ कोई भी व्यवहार करनेकी स्वीकृति मिल जाती है नैतिकता के प्रहरी होने का पाखंड रचनेवाले समाज को! अगर तलाकशुदा स्त्री नाइटक्लब जाती है तो क्या शेष समाज उसे अत्याचार करके बताएगा कि वह कभी घर की देहरी न लांघा करे ! इन दोहरे मापदडों को कब तक सही ठहराया जाता रहेगा कि लड़के पी सकते है, कहीं भी व कभी भी जा सकते हैं, बनियान-हॉफपैंट में घूम सकते हैं लेकिन लड़की यदि यह सब करे तो वह आमंत्रण हो जाता है? इंसान को अपनी हर ऐसी भावनाओं पर नियंत्रण रखना सीखना होता है, जिसका असर दूसरों पर पड़नेवाला हो लेकिन वे सीखेंगे कहां ? परिवार में वे तो यही देखकर बड़े होते हैं कि पुरुष औरत को हर तरह से अपने अधीन रखते हैं।

कितनी विचित्र बात है कि पुरुष इस बात को लेकर निश्चिंत हैं कि चरित्र को लेकर समाज में उनके लिए कोई मानदंड नहीं है। वह कुछ गलत करता भी है तो यह उसकी मर्दानगी का सबूत माना जा सकता है, चंद लोग उसकी इस हरकत को लेकर नाक-भौंह सिकोड़ेंगे पर बाकी बिरादरी मन ही मन उसका अनुकरण करना चाहेगी।

समाज का निर्माण इस तरह से हो रहा है कि कई रूपों में पुरुष का यौन व्यवहार पीछा करने वाला तथा आक्रामकता स्वीकृत करनेवाला बन जाता है, चाहे वह टीवी सीरियलों के माध्यम से हो या फिल्मों के जरिए हो। उसके संस्कार में औरत के लिए बराबरी और सम्मान बुनियादी तौर पर नहीं है। वह कुंठाओं को पालता है और फिर उसे अभिव्यक्त करने के लिए मौका तलाशता है।

वजह चाहे जो हो लेकिन मुद्दा यह है कि औरत इसका खामियाजा क्यों भुगते ? ऐसे लोगों के साथ सख्ती से निपटना होगा। पर शासन-प्रशासन में भी कुंठित मानसिकता के ही लोग बैठे हैं, जो पहले यही जांचते हैं कि लड़की ने ऐसा मौका क्यों दिया, जिसमें लड़के अत्याचार पर उतर आएं। एक बलात्कार की घटना पर प्रतिक्रिया देते हुए सुश्री ममता बनर्जी कहती हैं कि पीड़िता खराब चरित्रवाली है। 1978 में आदिवासी लड़की मथुरा के साथ पुलिस ने सामूहिक बलात्कार किया तो उसे खराब चरित्रवाली कहा गया था। तब देश भर में इसका विरोध हुआ था क्योंकि इसी आधार पर पुलिसवालों की सजा कम कर दी गई थी। इस घटना के तीन दशक से गुजर जाने के बाद भी इस तरह की सोच बहाल है। इसी तरह आंध्र प्रदेश के पुलिस कमिश्नर सलाह देते हैं कि महिलाओं को यौन हिंसा से बचाव के लिए ढंग के कपड़े पहनना चाहिए। साफ है कि जहां ध्यान अपराधी के व्यवहार पर होना चाहिए, वहां पीड़िता पर ही टिप्पणियां शुरू हो जाती हैं।

कब से मांग हो रही है कि बलात्कार जैसे जुर्म के लिए फास्ट ट्रैक कोर्ट में सुनवाई हो और अपराध साबित होने पर सजा तुरंत हो। मगर इस मांग पर अमल तभी होता है जब किसी विदेशी के साथ अत्याचार की घटना सामने आती है, जिसके चलते देश की छवि खराब होने का खतरा रहता है। बाकी मामलों में तो सुनवाई इतनी लंबी चलती है कि बाद में उस पर न्याय का कोई मतलब ही नहीं रह जाता है।

समलैंगिक संबंधों की वैधानिकता को लेकर फिर गरमाया मामला

सरकार और अदालत आमने-सामने

नई दिल्ली (एसएनबी)। केंद्रीय गृह मंत्रालय ने समलैंगिक संबंधों को अत्यंत अनैतिक और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ करार देते हुए इन्हें अपराध की श्रेणी से बाहर किए जाने का सुप्रीम कोर्ट में कड़ा विरोध किया। हालांकि बाद में समलैंगिकता पर सुप्रीम कोर्ट में केंद्र सरकार के रुख से केंद्रीय गृह मंत्रालय ने असहमति व्यक्त की है।

मंत्रालय की ओर से पैरवी कर रहे अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल पीपी मल्होत्रा ने न्यायमूर्ति जीएस सिंघवी तथा न्यायमूर्ति जे मुखोपाध्याय की पीठ के समक्ष तर्क दिया कि 'समलैंगिक संबंध बहुत अनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ हैं। इस तरह के कृत्यों से बीमारियां फैलने के ज्यादा अवसर होते हैं।' दिल्ली हाईकोर्ट के फैसले का विरोध करते हुए अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल ने कहा कि भारतीय समाज समलैंगिकता को अस्वीकार करता है और कानून समाज से अलग नहीं चल सकता। हालांकि अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल (एएसजी) पीपी मल्होत्रा द्वारा गृह मंत्रालय द्वारा इस मामले में दिल्ली हाईकोर्ट में दिए गए हलफनामे के आधार पर दलीलें पेश करने पर गृह मंत्रालय को आनन-फानन में स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी। गृह मंत्रालय ने कहा है कि दिल्ली हाईकोर्ट के आदेश पर उसने तटस्थ रहने का फैसला किया था। इस फैसले से एटार्नी जनरल को भी अवगत करा दिया गया था। एटार्नी जनरल गुलाम वाहनवती को सरकार की ओर से इस मामले में सुप्रीम कोर्ट को मदद करने की हिदायत दी गई है।

दिल्ली हाईकोर्ट ने वयस्कों के बीच सहमति के आधार पर समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी से बाहर करने का फैसला दिया था। गृह मंत्रालय ने अपने बयान में कहा कि इस मुद्दे पर कैबिनेट ने विचार किया था और यह निर्णय लिया था कि केंद्र सरकार हाईकोर्ट के फैसले के खिलाफ अपील दायर नहीं करेगी।

अपील दायर होने पर एटार्नी जनरल अदालत को सहयोग प्रदान कर सकते हैं। गृह मंत्रालय ने केंद्रीय कैबिनेट के फैसले से एटार्नी जनरल को अवगत करा दिया था। कैबिनेट ने यह फैसला दिल्ली हाईकोर्ट के निर्णय के बाद लिया था। कैबिनेट के फैसले के अलावा मंत्रालय की ओर से कोई निर्देश भी नहीं जारी किया गया है।

सुप्रीम कोर्ट ने बुधवार को समलैंगिक अधिकार विरोधी समूहों से सवाल-जवाब किए थे। शीर्ष अदालत ने समलैंगिक अधिकार विरोधी समूहों से दिल्ली हाईकोर्ट के फैसले का विरोध करते समय 'सोच के दायरे को बढ़ाने' और अपने तर्कों को सिर्फ शारीरिक संबंधों तक ही सीमित नहीं रखने को कहा था, क्योंकि मुद्दे पर अंतिम फैसले में व्यापक जटिलताएं होंगी। कोर्ट ने देश में समलैंगिक लोगों के खिलाफ इस तरह की गतिविधियों में शामिल होने के लिए दर्ज मामलों की संख्या भी पूछी थी। सुप्रीम कोर्ट समलैंगिक अधिकार विरोधी कार्यकर्ताओं, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक संगठनों की याचिकाओं पर सुनवाई कर रहा है, जिन्होंने समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी से बाहर किए जाने के दिल्ली हाईकोर्ट के फैसले का विरोध किया है ।

सात फरवरी 2011 को पीठ ने मामले में सशस्त्र बलों को अभियोजित करने से इंकार कर दिया था। हाईकोर्ट के फैसले से विवाद खड़ा हो गया था और कई राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक संगठनों ने शीर्ष अदालत से मामले पर अंतिम फैसला देने को कहा था।

क्या है कानून

▶ भारतीय दंड संहिता की धारा-377 (अप्राकृतिक अपराध) समलैंगिक संबंधों को अपराध मानती है, जिसके तहत अधिकतम सजा उम्र कैद हो सकती है।

सरकार की दलील

▶ समलैंगिक संबंध बहुत अनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ हैं। इस तरह के कृत्यों से बीमारियां फैलने के ज्यादा अवसर होते हैं।

▶ भारतीय समाज अन्य देशों से भिन्न है। हमारा संविधान अलग है। हमारी नैतिकता तथा हमारे मूल्य भी दूसरे देशों से भिन्न हैं। इसलिए हम उनका पालन नहीं कर सकते।

क्या है मामला

▶ 2009 में समलैंगिक संबंधों को तब वैध मान लिया गया, जब दिल्ली हाईकोर्ट ने अपने फैसले में ऐसे संबंधों को अपराध की श्रेणी से बाहर कर दिया था। देश के कई सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संगठनों ने इस फैसले पर आपत्ति जताई थी। इस फैसले के खिलाफ आधा दर्जन याचिकाएं सुप्रीम कोर्ट में है।

कोर्ट का पक्ष

▶ शीर्ष अदालत ने हाईकोर्ट के फैसले का विरोध करते समय 'सोच के दायरे को बढ़ाने' को कहा था। ▶ इससे पूर्व पीठ ने कहा था कि समलैंगिकता को बदलते समाज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। ▶ पीठ ने 'लिव इन रिलेशनशिप', 'सिंगल पेरेंट' और 'सरोगेसी' का हवाला दिया था।

समलैंगिकता पर सख्त हुआ सुप्रीम कोर्ट, कहा

केंद्र ने बरती उदासीनता

नई दिल्ली (एसएनबी)। उच्चतम न्यायालय ने समलैंगिकता को अपराध के दायरे से बाहर लाने के महत्वपूर्ण मुद्दे पर ढीला रुख अपनाने को लेकर केंद्र की खिंचाई की और कहा कि इसकी निंदा किये जाने की जरूरत है। न्यायाधीश जीएस सिंघवी तथा एसजे मुखोपाध्याय की पीठ ने सरकार के विभिन्न हलफनामों पर विचार करने के बाद कहा कि केंद्र ने मामले को हल्के में लिया है।

पीठ ने कहा, ''उन्होंने मामले को हल्के में लिया है। इस प्रकार के व्यवहार की निंदा किये जाने की जरूरत है और हम इस बारे में अपने फैसले में उल्लेख करने जा रहे हैं।'' न्यायालय ने कहा कि यह खास मामला है जिसमें सरकार ने उच्च न्यायालय में मामला लड़ने के बाद न्यायालय के समक्ष उदासीन रुख अपनाया है। पीठ ने कहा, ''हमें नहीं पता कि वे कितने मामलों में उदासीन हैं। यह खास मामला है जहां केंद्र उच्च न्यायालय में बहस के बाद अब उदासीन रुख अपना रहा है।''

पीठ ने कहा, ''सरकार मामले में तटस्थ रुख के साथ आई है। किसे स्वीकार किया जाना चाहिए, उच्च न्यायालय में जो हलफनामा दायर किया गया था या शीर्ष अदालत में उदासीन रुख का।'' पीठ ने इस बात पर चिंता जतायी कि विधि आयोग की सिफारिश के बावजूद पिछले 60 साल में संसद ने भारतीय दंड संहिता की धारा 377 में संशोधन पर विचार नहीं किया है। न्यायालय ने कहा, ''विधायिका के पास इन मुद्दों पर विचार के लिये समय नहीं है। आखिर इस देश के लोग कब तक इंतजार करेंगे...।'' शीर्ष अदालत समलैंगिक अधिकार विरोधी कार्यकर्ताओं और राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक संगठनों की याचिकाओं पर सुनवाई कर रही थी जो उच्च न्यायालय के फैसले का विरोध कर रहे हैं। दिल्ली उच्च न्यायालय ने 2009 में समलैंगिक संबंधों को अपराध की श्रेणी से बाहर कर दिया था और व्यवस्था दी थी कि एकांत में दो वयस्कों के बीच आपसी सहमति से संबंध अपराध नहीं हैं।

▶ शीर्ष अदालत ने इसकी निंदा किए जाने की जरूरत बताई और कहा, हम इस बारे में अपने फैसले में उल्लेख करने जा रहे हैं

▶ शीर्ष अदालत समलैंगिक अधिकार विरोधी कार्यकर्ताओं और अन्य संगठनों की याचिकाओं पर सुनवाई कर रही थी जो उच्च न्यायालय के फैसले का विरोध कर रहे हैं

भारतीय दंड संहिता की धारा 377 (अप्राकृतिक अपराध) के तहत समलैंगिक संबंधों को अपराध माना गया है जिसमें उम्रकैद तक की सजा का प्रवाधान है। वरिष्ठ भाजपा नेता बीपी सिंघल ने उच्च न्यायालय के फैसले को यह कहकर उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी थी कि इस तरह की गतिविधियां अवैध, अनैतिक और भारतीय संस्कृति के मूल्यों के खिलाफ हैं। आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड, उत्कल क्रि श्चियन काउंसिल और एपोस्टोलिक चर्चेज जैसे धार्मिक संगठनों ने भी फैसले को चुनौती दी थी ।

योग गुरु बाबा रामदेव, ज्योतिषी सुरेश कौशल, दिल्ली बाल संरक्षण आयोग और तमिलनाडु मुस्लिम मुन्न कशगम ने भी उच्च न्यायालय के फैसले का विरोध किया था। केंद्र ने पूर्व में शीर्ष अदालत को सूचित किया था कि समलैंगिकों की संख्या करीब 25 लाख है और इनमें से सात प्रतिशत (1.75 लाख) एचआईवी ग्रस्त हैं।

केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय ने अपने हलफनामे में कहा था कि वह अत्यधिक जोखिम वाले चार लाख लोगों- 'पुरुषों के साथ यौन संबंध रखने वाले पुरुषों' (एमएसएम) को अपने एड्स नियंत्रण कार्यक्रम के दायरे में लाने की योजना बना रहा है और यह पहले ही करीब दो लाख लोगों को इसके दायरे में ला चुका है। एचआईवी ग्रस्त लोगों के कल्याण एवं पुनर्वास के लिए काम करने वाले गैर सरकारी संगठन 'नाज' फाउंडेशन ने पूर्व में कहा था कि समलैंगिक संबंधों को अपराध की श्रेणी में रखना संवैधानिक मूल्यों के खिलाफ है और कानून को उस समय हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब मामला आपसी सहमति वाले वयस्कों से जुड़ा हो।

संगठन ने कहा था, ''यह उन्हें समाज में अलग-थलग करने के बराबर है। वे अपनी यौन अभिव्यक्ति का खुलासा करने में सक्षम नहीं हैं क्योंकि समाज में इसे अपराध बना दिया गया है। जबकि कौटुम्बिक व्यभिचार को अपराध नहीं माना गया है

समलैंगिकता पर सुप्रीम कोर्ट ने मांगी अन्य देशों के कानून की जानकारी

नई दिल्ली (एसएनबी)। सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि समलैंगिकता पर दूसरे देशों के कानून को भी जानना चाहिए कि कितने देशों में समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी में रखा गया है। अदालत ने कहा कि दो वयस्को के बीच सहमति के आधार पर समलैंगिक संबंधों को अपराध की श्रेणी से अलग करने का दिल्ली हाईकोर्ट का निर्णय दूरगामी प्रभाव वाला है। इसके सभी पहलुओं को गंभीरता से विचार करना होगा।

▶ दिल्ली हाईकोर्ट ने दिया था दो वयस्कों के बीच सहमति के आधार पर समलैंगिक संबंधों को अपराध की श्रेणी से अलग करने फैसला

▶ शीर्ष अदालत ने कहा, दूरगामी प्रभाव वाले इस निर्णय के सभी पहलुओं पर गंभीरता से विचार करना होगा

जस्टिस जीएस सिंघवी और सुधांशु ज्योति मुखोपाध्याय की बेंच ने वकील अमरेंद्र शरण से जानना चाहा कि पुरुष समलैंगिकता (गे-सेक्स) को कौन-कौन से देशों में अपराध माना गया है। समलैंगिक समुदाय के खिलाफ आईपीसी की धारा 377 के तहत कितने मुकदमे दर्ज किए गए हैं। समलैंगिक समुदाय धारा 377 को गलत मानता है। उनका कहना है कि इस कानून के जरिए उन्हें बेवजह परेशान किया जाता है।

बेंच का मत था कि हाईकोर्ट के फैसले का प्रभाव अन्य कानूनों पर भी पड़ेगा। इसलिए समूचे विवाद को एक बड़े दायरे के तहत देखने की जरूरत है। अमरेंद्र शरण दिल्ली बाल संरक्षण आयोग की ओर से हाईकोर्ट के फैसले के विरोध में दलीलें दे रहे हैं। उन्होंने कहा कि हाईकोर्ट का फैसला विदेशी अदालतों के निर्णय पर आधारित है। भारत की संस्कृति विदेशों से अलग है। इसे भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से देखा जाए। सुनवाई की पिछली तारीख पर सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि असामान्य और अप्राकृतिक यौनाचार में फर्क है। कुदरत के विपरीत यौन इच्छाओं को असामान्य कहा जा सकता है लेकिन इसे अप्राकृतिक कहना मुनासिब नहीं होगा। समलैंगिकता को बदलते सामाजिक परिवेश के साथ देखने की जरूरत है। 20-25 साल पहले जिन चीजों को अनैतिक कहा जाता था, अब स्वीकार्य हैं। अदालत ने अविवाहित जोड़ों के एकसाथ रहने की बात कही। लिव-इन रिलेशनशिप को सामाजिक और कानूनी मान्यता मिल गई है। कुछ साल पहले समाज इस तरह के रिश्तों को स्वीकार नहीं करता था। सिंगल पैरेंट का चलन भी समाज में तेजी से बढ़ रहा है। बहुत से लोग शादी के बंधन में बंधना नहीं चाहते लेकिन पिता बनना चाहते हैं। कृत्रिम गर्भ के जरिए बच्चे को हासिल करके वह पिता होने का सुख प्राप्त कर लेते हैं।

गौरतलब है कि दिल्ली हाईकोर्ट के दो जुलाई 2009 के फैसले पर देशभर में तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। हाईकोर्ट के फैसले के खिलाफ सामाजिक और धार्मिक संगठनों के अलावा सरकारी संस्थाओं ने भी याचिका दायर की है। हाईकोर्ट ने सहमति के आधार पर दो वयस्कों के बीच समलैंगिकता को मान्यता प्रदान कर दी थी। सहमत वयस्कों के परिपेक्ष्य में आईपीसी की धारा 377 के तहत समलैंगिकता को गैर-कानूनी करार देने के प्रावधान को हाईकोर्ट ने असंवैधानिक घोषित किया था।

समलैंगिकता को बदलते समाज के संदर्भ में देखा जाना चाहिए : सुप्रीम कोर्ट

नई दिल्ली,16 फरवरी(भाषा) । सुप्रीम कोर्ट ने गुरुवार को कहा कि समलैंगिकता को बदलते समाज के संदर्भ में देखा जाना चाहिए क्योंकि अनेक बातें जो पहले अस्वीकार्य थीं, वो वक्त बीतने के साथ स्वीकार्य हो गई हैं। न्यायमूर्ति जी एस सिंघवी और न्यायमूर्ति एस जे मुखोपाध्याय की पीठ ने कहा कि इन बातों को बदलते वक्त के आलोक में देखा जाना चाहिए जहां सहजीवन, एकल माता-पिता और कृत्रिम निषेचन सामान्य बात हो गई है।

पीठ ने कहा- सहजीवन, एकल माता-पिता, किराए की कोख हालिया परिघटना हैं। ऐसा मामला हो सकता है जहां कोई व्यक्ति अविवाहित हो लेकिन पिता बनना चाहता है और किराए की कोख की सहायता लेता है। 34 साल पहले यह प्रकृति के खिलाफ था लेकिन अब कृत्रिम निषेचन एक फलता-फूलता व्यापार है। पीठ ने यह भी कहा कि अनेक बातें जो 20 साल पहले अनैतिक समझी जाती थीं, वे अब समाज के लिए स्वीकार्य हो चुकी हैं। पीठ ने कहा- समाज बदल रहा है। समलैंगिकों के बीच यौन संबंध 1860 से पहले अपराध नहीं था और इस संदर्भ में पीठ ने खजुराहो की पेंटिंग और मूर्तियों का उल्लेख किया।

वरिष्ठ अधिवक्ता अमरेंद्र सरन ने कहा कि सामाजिक मुद्दों का फैसला मूर्तिकला के आधार पर नहीं किया जा सकता है। सरन दिल्ली बाल अधिकार रक्षा आयोग की तरफ से समलैंगिक यौन संबंध को अपराध की श्रेणी से बाहर करने के दिल्ली हाई कोर्ट के फैसले का विरोध कर रहे थे। पीठ ने कहा कि यह उस वक्त के समाज की झलक है और समलैंगिकता को सिर्फ यौन संबंध के संदर्भ में नहीं देखा जाना चाहिए।

इससे पहले, पीठ ने समलैंगिक अधिकार विरोधी समूहों से कहा था कि वे इस बात को स्पष्ट करें कि कैसे इस तरह के कृत्य प्रकृति के खिलाफ हैं। शीर्ष अदालत समलैंगिक अधिकार विरोधी कार्यकर्ताओं और राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संगठनों की ओर से दायर याचिकाओं पर सुनवाई कर रही थी, जो समलैंगिक यौन संबंध को अपराध की श्रेणी से बाहर करने के दिल्ली हाई कोर्ट के फैसले का विरोध कर रहे हैं।

पीठ बुधवार को भी मामले की सुनवाई जारी रखेगी।

आधी आबादी आज भी खुले में शौच को मजबूर

जनगणना रिपोर्ट 2001 के मुकाबले स्थिति में फिर भी सुधार, 63 फीसदी लोगों के पास मोबाइल फोन और 33 फीसदी घरों में है टीवी

नेशनल ब्यूरो | नई दिल्ली

देश में अच्छे स्वास्थ्य की जगह स्टेटस सिंबल को ज्यादा तवज्जो दी जा रही है। रजिस्ट्रार जनरल ऑफ इंडिया (आरजीआई) ने 2011 जनगणना की ताजा रिपोर्ट में खुलासा किया है कि देश के लगभग 53.1 फीसदी घरों में शौचालय की सुविधा नहीं है। आधी आबादी आज भी खुले में शौच करने को मजबूर है। लेकिन इसके ठीक उलट देश में लगभग 63.2 प्रतिशत जनता मोबाइल फोन का इस्तेमाल करती है। 2001 के मुकाबले पचास फीसदी ज्यादा घरों में नए टीवी सेट खरीदे गए हैं।

जनगणना-2011 के 'मकान-सूचीकरण और मकानों की गणना' से मिले आंकड़ों के अनुसार, भारत में 70 फीसदी ग्रामीण और लगभग 19 प्रतिशत शहरी लोग आज भी खुले में शौच करते हैं।

हालांकि 2001 जनगणना के मुकाबले दस सालों में शौचालय के इस्तेमाल में कुल दस फीसदी का इजाफा भी देखा गया है। 2001 में 63.6 आबादी खुले में शौच करने को मजबूर थी। 2011 में यह आंकड़ा 53.1 प्रतिशत तक गिर गया है। इसके ठीक उलट की तस्वीर दिखाते हुए रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत के लगभग 63.2 घरों में मोबाइल या टेलीफोन की सुविधा मौजूद है। सबसे रोचक बात तो यह है कि पिछले दस सालों के दौरान इस क्षेत्र में लगभग 54 प्रतिशत का जबरदस्त इजाफा हुआ है।

2001 जनगणना के अनुसार सिर्फ 9.1 प्रतिशत लोग टेलीफोन या मोबाइल का इस्तेमाल करते थे। आरजीआई रिपोर्ट के अनुसार देश की 47.2 फीसदी घरों में टीवी सेट मौजूद है। बच्चों के अधिकारों के लिए काम करने वाली अंतरराष्ट्रीय संस्था 'यूनिसेफ' के विशेषज्ञ एडन क्रोनी का कहना है ' खुले में शौच करने की वजह से ही पोलियो, हैजा और एनीमिया जैसे बीमारियों का संक्रमण बढ़ता है। भारत में 80 फीसदी बच्चों में हैजा होने का कारण गंदा पानी है। प्रमुख कारण खुले में शौच करना ही है।'

रिपोर्ट की अन्य प्रमुख बातें

- 49 फीसदी घरों में खाना बनाने के लिए सूखी लकड़ियों का इस्तेमाल
- सिर्फ 42 फीसदी घरों में ही है बाथरूम
- नल से पेयजल की सहूलियत अभी तक सिर्फ 43 प्रतिशत लोगों तक
- 67 फीसदी घरों में बिजली उपलब्ध
- 31 प्रतिशत खाना पकाने के लिए केरोसिन पर निर्भर
- 59 फीसदी परिवार बैंक सुविधा का करते हैं इस्तेमाल

... तो हर घर में होगा शौचालय

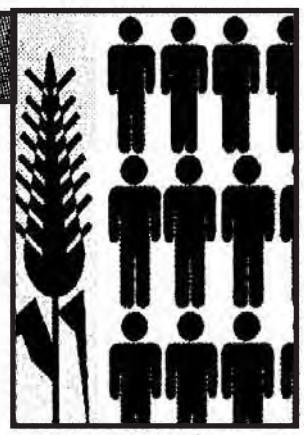

स्वच्छता अभियान जयराम ने प्रधानमंत्री से मांगे 44 हजार करोड़ रुपए, गृह निर्माण-पेयजल-स्वच्छता एक योजना में शामिल किए जाएं

शिशिर सोनी | नई दिल्ली

केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्री जयराम रमेश की चली तो देश में स्वच्छता का महा-अभियान चल सकेगा। खुले में शौच की परंपरा बंद होगी। हर घर में शौचालय होगा। गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर करने वालों को शौचालय के निर्माण में केंद्रीय मदद 3 हजार 200 रुपए से बढ़ाकर 8 हजार रुपए दिए जा सकेंगे। 12वीं पंचवर्षीय योजना में इस परियोजना को शामिल करने का अनुरोध करते हुए जयराम ने इस अभियान के लिए सीधे प्रधानमंत्री से मदद की अपील की है। पत्र में उन्होंने लिखा है कि महा-अभियान पर युद्धस्तर पर काम करने के लिए योजना आयोग को 44 हजार करोड़ रुपए का आवंटन सुनिश्चित करना चाहिए। 10वीं और 11वीं पंचवर्षीय योजना में इस मद में 2 हजार 100 और 7 हजार करोड़ रुपए का इंतजाम किया गया था। जयराम इस राशि में छह गुनी बढ़ोतरी चाहते हैं। ग्रामीण विकास के साथ स्वच्छता और पेयजल मंत्रालय का अतिरिक्त प्रभार संभाल रहे जयराम ने प्रधानमंत्री से अपील की है कि गृह निर्माण, पेयजल आपूर्ति और स्वच्छता को अलग-अलग योजनाओं में शामिल करने की बजाय बेहतर जीवन के लिए जरूरी तीनों विषयों को एक ही परियोजना में शामिल किया जाना चाहिए।

खुले में शौच राष्ट्रीय शर्मः

तीन पेज का पत्र लिखकर केंद्रीय मंत्री ने 21वीं सदी में भी खुले में शौच जाने को राष्ट्रीय शर्म की संज्ञा दी है। उन्होंने प्रधानमंत्री को याद दिलाते हुए लिखा कि हाल ही में आपने कुपोषण को राष्ट्रीय शर्म बताया था, ठीक ऐसे ही राष्ट्रीय शर्म का विषय है खुले में शौच जाना। प्रधानमंत्री को 38 पेजों का स्वच्छता के महा-अभियान का ब्लूप्रिंट भी पत्र के साथ नत्थी कर भेजा है। उन्होंने दावा किया है कि ब्लूप्रिंट पर अमल किया गया तो वर्ष 2017 तक पचास फीसदी और वर्ष 2022 तक शत-प्रतिशत घरों में शौचालय के निर्माण का लक्ष्य सरकार पूरा कर सकती है। सौ फीसदी स्वच्छता अभियान को निर्मल-ग्राम परियोजना के अनुरूप चलाए जाने का अनुरोध प्रधानमंत्री से किया गया है। देशभर में 25 हजार निर्मल-ग्राम हैं, जिनमें अकेले महाराष्ट्र में 9 हजार निर्मल-ग्राम की स्थापना हो चुकी है।

3200 नाकाफी, मिलें ₹ 8000

यूनेस्को और डब्लूएचओ के एक रिपोर्ट को माध्यम बनाते हुए जयराम ने प्रधानमंत्री को बताया है कि देश में अभी 60 फीसदी गरीब जनता खुले में शौच जाने को विवश है। केंद्रीय मंत्री ने शौचालय बनाए जाने को दिए जा रहे 3 हजार 200 रुपए को नाकाफी बताया है। उन्होंने कहा कि ज्यादातर लोगों ने एक शौचालय के बनाने में कम से कम 8 हजार रुपए के खर्च का जिक्र किया है। मदद को बढ़ाए जाने की आवश्यकता पर उन्होंने खासा बल दिया है।

देश 2022 तक खुले शौचालय से होगा मुक्त

अमर उजाला ब्यूरो

सरकार ने रखा लक्ष्य, योजना साकार करने को बजट बढ़ाने की जरूरत

नई दिल्ली। सरकार ने स्वच्छता अभियान के तहत अगले दस वर्षों में देश को खुले शौचालय से मुक्त कराने का लक्ष्य रखा है। पंचायतों के जरिए इस योजना को साकार करने के लिए ग्रामीण विकास मंत्रालय ने योजना आयोग से स्वच्छता अभियान के तहत आवंटित की जाने वाली राशि को बढ़ाने का आह्वान किया है। मंत्रालय का कहना है कि लक्ष्य को समय पर पूरा करने के लिए बारहवीं पंचवर्षीय योजना में इस मद की राशि में कम से कम 60 फीसदी की बढ़ोतरी जरूरी है।

ग्रामीण विकास मंत्री जयराम रमेश के मुताबिक मौजूदा समय सिर्फ 10 फीसदी ही ग्राम पंचायतें ऐसी हैं जहां खुले में शौच की प्रथा समाप्त हो पाई है। लिहाजा अगले दस वर्षों में शेष 90 फीसदी ग्राम पंचायतों में खुले शौचालयों को समाप्त करने के लिए अधिक धनराशि और समयबद्ध कारगर योजना के साथ काम करना होगा। इसके लिए ग्रामीण परिवारों को घरों में शौचालय बनाने के लिए दी जाने वाली राशि बढ़ाने की आवश्यकता है। मौजूदा समय शौचालय बनाने के लिए प्रति परिवार को सरकार 3000 रुपये दे रही है। लेकिन महंगाई को देखते हुए इस राशि में शौचालय बन पाना संभव नहीं है। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों में यह योजना गति नहीं पकड़ पा रही है। रमेश ने बताया कि सभी ग्राम पंचायतों को वर्ष 2022 तक खुले शौचालय से मुक्त कराने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसके लिए योजना आयोग से इस मद की आवंटन राशि में 60 फीसदी तक बढ़ोतरी करने की मांग की गई है।

बैतूल की अनीता को पांच लाख का सुलभ पुरस्कार

नई दिल्ली (एजेंसी)। देश में किफायती शौचालय आंदोलन को प्रोत्साहित करते हुए केंद्रीय ग्रामीण विकास, पेयजल एवं स्वच्छता मामलों के मंत्री जयराम रमेश ने शौचालय के अभाव में ससुराल छोड़ने वाली अनीता नर्रे को पांच लाख रुपये के सुलभ स्वच्छता पुरस्कार से सोमवार को यहां सम्मानित किया। मध्य प्रदेश में बैतूल जिले के जीतूढाणा गांव के शिवराम नर्रे से शादी करने वाली अनीता ससुराल में शौचालय सुविधा न होने के कारण अगले ही दिन मायके लौट आई थी और शौचालय बन जाने के बाद ही दोबारा ससुराल लौटी थी।

शौचालय के प्रति अनीता की जागरूकता और उसके कड़े कदम को ध्यान में रखते हुए गैर-सरकारी संगठन सुलभ इंटरनेशनल ने उसे पांच लाख रुपये का स्वच्छता पुरस्कार देने की घोषणा की थी।

इस अवसर पर जयराम रमेश ने सामाजिक संगठनों, स्व-सहायता समूहों एवं आम आदमी से स्वच्छता के प्रति जागरूकता बढ़ाने में सहयोग की अपील की। उन्होंने कहा कि सरकार का लक्ष्य आने वाले एक दशक के भीतर देश के प्रत्येक गांव को निर्मल ग्राम बनाने का है।

हालांकि उन्होंने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए देश के स्व.सहायता समूहों एवं गैर-

- ▶ ससुराल में शौचालय सुविधा न होने के कारण अगले ही दिन मायके लौट आई थी अनीता और शौचालय बन जाने के बाद ही दोबारा ससुराल लौटी
- ▶ अनीता को 'स्वच्छता की दूत' की संज्ञा देते हुए देश की सभी महिलाओं को उनसे प्रेरणा लेने की सलाह

सरकारी संगठनों के सहयोग को महत्वपूर्ण करार दिया। रमेश ने कहा कि देश में करीब ढाई लाख ग्राम पंचायत हैं लेकिन यह काफी दु:खद है कि फिलहाल मात्र 25 हजार पंचायत ही निर्मल ग्राम पंचायत है। उन्होंने जनता से यह संकल्प लेने की अपील की कि वह भारत को निर्मल बनाकर ही दम लेगी। उन्होंने कहा कि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि देश की 60 प्रतिशत महिलाओं को शौच सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं।

बैतूल जिले की जीतूढाणा गांव की अनीता को 'स्वच्छता की दूत' की संज्ञा देते हुए देश की सभी महिलाओं को उनसे प्रेरणा लेने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि सरकार ने भी आगामी बजट में पेयजल और स्वच्छता के मद में चालू वित्त वर्ष की तुलना में 40 फीसद अधिक राशि आवंटित की है जो इस दिशा में सरकार की सकारात्मक सोच का प्रतीक है।

जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता एवं सुलभ आंदोलन के प्रणेता डॉ. बिन्देशवर पाठक ने कहा कि शौचालय उपलब्ध होने की बात पर विद्रोह पर उतरने वाली इस ग्रामीण महिला ने इस देश के लिए क्रांतिकारी कदम उठाया है, जहां 66 करोड़ की आबादी खुले में शौच करती है।

उम्मीदों और सपनों की लक्ष्मणरेखा

गरीबी रेखा या निर्धनता रेखा आय के उस स्तर को कहते है जिससे कम आमदनी होने पर इनसान अपनी भौतिक जरूरतें पूरी नहीं कर पाता। गरीबी रेखा विभिन्न देशों मे अलग-अलग होती है। उदहारण के लिये अमरीका मे निर्धनता रेखा भारत मे मान्य निर्धनता रेखा से काफी ऊपर है। अगर हम गरीबी की पैमाइश के अंतरराष्ट्रीय पैमानों की बात करें, जिसके तहत रोजना 1.25 अमेरिकी डॉलर (लगभग 60 रुपये) खर्च कर सकने वाला व्यक्ति गरीब है तो अपने देश में 456 मिलियन (लगभग 45 करोड़ 60 लाख) से ज्यादा लोग गरीब हैं।

कैसे तय होते हैं गरीब

योजना आयोग तेंदुलकर समिति द्वारा सुझाए गए पैमानों के आधार पर किसी परिवार की गरीबी का आकलन करता है। पैमाने में किसी परिवार द्वारा स्वाथ्य और शिक्षा पर किए जा रहे खर्च समेत भोजन में कैलोरी की भी गणना की जाती है। योजना आयोग ने दिसंबर 2005 में तेंदुलकर समिति का गठन किया था। इस समिति के मानदंडों और उनके आधार पर निकले निष्कर्षों पर समय समय पर प्रश्न उठते रहे हैं।

कितने थे गरीब

योजना आयोग ने गरीबी नापने के अपने पैमाने के आधार पर जारी अपने रिपोर्ट में कहा कि शहर में प्रतिदिन 28 रुपये 65 पैसे खर्च करने वाला व्यक्ति गरीब नहीं है। जबकि गांवों में प्रतिदिन 22 रुपये 42 पैसे खर्च करने वाले को गरीब नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर महीने में 859 रुपये 60 पैसे खर्च करने वाला शहरी व्यक्ति और 672 रुपये 80 पैसे खर्च करने वाला ग्रामीण व्यक्ति गरीब की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसी के आधार पर आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि बीते पांच वर्षों में गरीबी घटी है। रिपोर्ट के अनुसार 2004-05 के मुकाबले 2010-11 में गरीबी 7.3 प्रतिशत कम हुई है। 2010-11 में देश में गरीबी की दर 29.8 फीसदी रह गई। जबकि पांच साल पहले यह 37.2 फीसदी थी। रिपोर्ट के मुताबिक देश में करीब 34.37 करोड़ लोग गरीब हैं। जबकि 2004-05 में यह आंकड़ा 40.72 करोड़ था।

खेल लंबा है

कुछ दिन पहले गरीबी रेखा की नई परिभाषा तय करते हुए योजना आयोग ने कहा कि शहर में 32 रुपये और गांव में हर रोज 26 रुपये खर्च करने वाला शख्स बीपीएल परिवारों को मिलने वाली सुविधा को पाने का हकदार नहीं है। अपनी यह रिपोर्ट योजना आयोग ने सुप्रीम कोर्ट को हलफनामे के तौर पर दी। इस रिपोर्ट पर खुद प्रधानमंत्री ने हस्ताक्षर किए थे। आयोग ने गरीबी रेखा पर नया मानदंड सुझाते हुए कहा कि दिल्ली, मुंबई, बंगलोर और चेन्नई में चार सदस्यों वाला परिवार यदि महीने में 3,860 रुपये खर्च करता है, तो वह गरीब नहीं कहा जा सकता। बाद में जब इस बयान की आलोचना हुई तो योजना आयोग ने फिर से गरीबी रेखा के लिये सर्वे की बात कही।

प्रस्तुति : कृष्ण कुमार सिंह

गरीबों की संख्या

साल	गांव	शहर
1977-78	264.3	64.4
1983	**252.0**	**70.9**
1987-88	231.9	75.2
1993-94	**244.0**	**76.3**
1999-00	67.1	260.3
2007	**49.6**	**220.1**

(आंकड़े मिलियन में हैं)

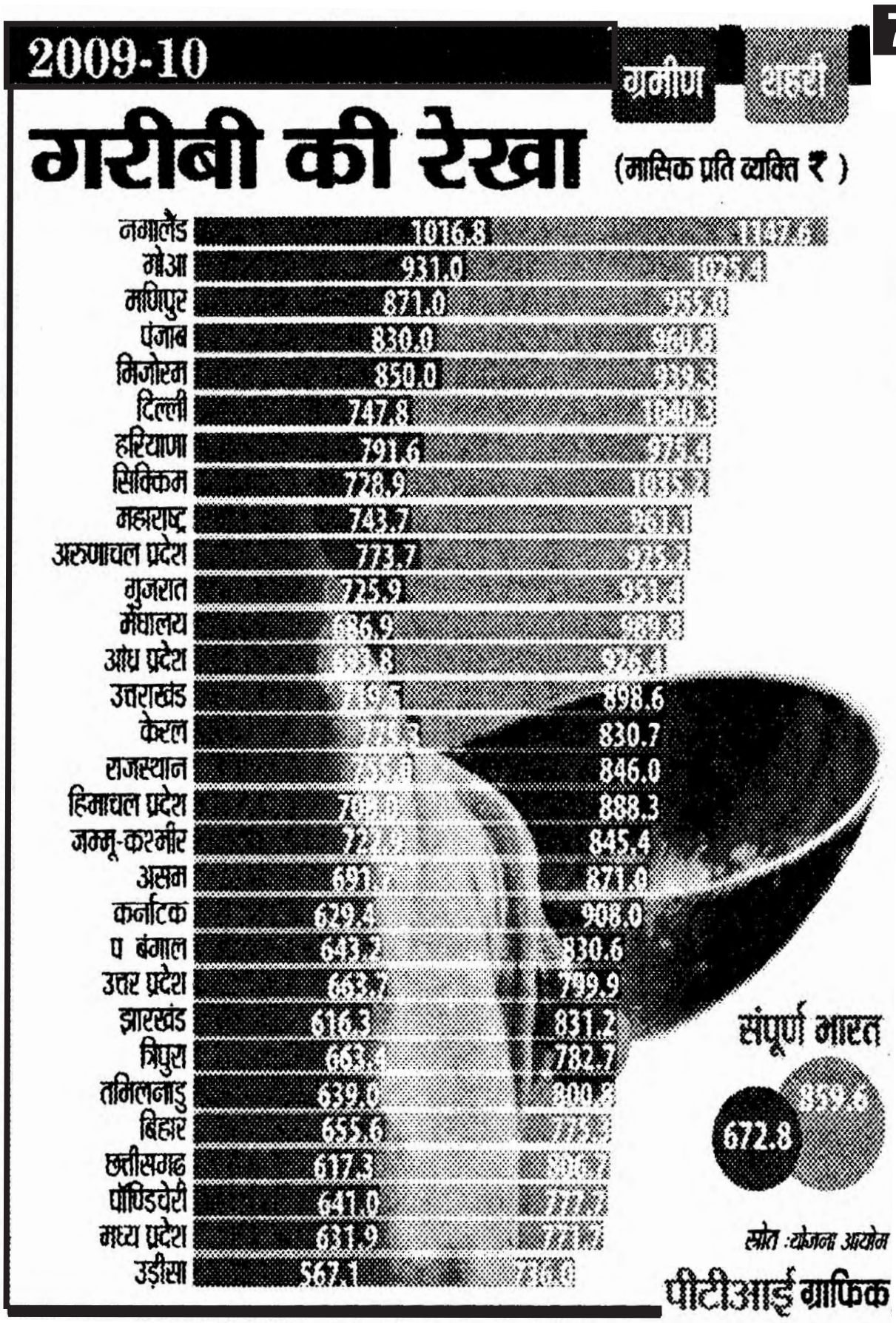

गरीबी का मजाक उड़ाते आंकड़े

उमेश चतुर्वेदी

लेखक टीवी पत्रकार हैं।

नए मानक

जनता अपने फैसले के जरिए बार-बार यही जताने की कोशिश कर रही है कि राजनीति पूरी तरह नई आर्थिकी पर आश्रित न हो। लेकिन राजनीति जैसे कदम उठा रही है, उससे नहीं लगता कि उसने सबक लेने की कोशिश की है।

लोकतंत्र को अगर खास शासन प्रणाली माना जाता है तो इसलिए भी कि जनता अपने फैसले से शासकों की नीतियों को स्वीकार और अस्वीकार करती रहती है। माना यह भी जाता है कि लोकतंत्र के पहरूए जनता के फैसले से भावी नीतियों और फैसलों में एहतियात बरतेंगे। लेकिन लोकतंत्र और उसे चलाने वाली राजनीति और नौकरशाही लगता नहीं कि इन खासियतों को आत्मसात कर पाई है।

अब जिस तरह योजना आयोग ने भारतीय गरीबी की नई परिभाषा और नए मानक पेश किए हैं, उससे तो यही साबित होता है। नए मानक को जिस योजना आयोग ने पेश किया है, उसके पदेन अध्यक्ष प्रधानमंत्री होते हैं। गौरतलब है कि प्रधानमंत्री और योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलूवालिया भी अर्थशास्त्री हैं। ऐसे में जब योजना आयोग शहरी गरीबी की सीमा रेखा 32 रुपए रोजाना की कमाई से घटाकर 28 रुपए 65 पैसे और ग्रामीण गरीबी की सीमा रेखा 26 रुपए रोजाना से घटाकर 22 रुपए 42 पैसे करेगा तो सवाल उठेंगे ही।

दिलचस्प यह है कि कुछ महीने पहले सुप्रीम कोर्ट में दायर अपने हलफनामे में सरकार ने गरीबी के लिए जो मानक बताए थे, उन्हीं पर ही सवाल उठे थे। तब से लेकर महंगाई में काफी बढ़ोत्तरी हो गई है। इसके बावजूद योजना आयोग को ऐसे आंकड़े जारी करते वक्त कोई हिचक नहीं हुई थी। सुप्रीम कोर्ट में दाखिल हलफनामे के मुताबिक शहरों में रोजाना 32 रुपए और गांवों में रोजाना 26 रूपए कमाने वाला शख्स गरीब नहीं था। लेकिन योजना आयोग अब उससे भी दो कदम पीछे जा पहुंचा है और उसने नए आंकड़े पेश कर दिए हैं। भले ही ये आंकड़े 2009-2010 के नाम पर किए गए हों, लेकिन हमें ये नहीं भूलना चाहिए कि इस साल पूरे देश में भयानक सूखा पड़ा था। फिर विश्वव्यापी आर्थिक मंदी इसके ठीक एक साल पहले आई थी, जिसकी अनुगूंज भारत में भी सुनी जा रही थी।

सवाल यह है कि आखिर ऐसे अतार्किक आंकड़ों को तैयार ही क्यों किया जा रहा है। इसके पीछे असल कारण वैचारिकता और संघर्ष के आधार हैं। आज पूरी दुनिया में राजनीति पर अर्थनीति हावी होने की कोशिश में है। वैसे उदारीकरण के दौर की सबसे बड़ी खासियत भी यही है कि नई आर्थिकी मौजूदा राजनीति को संचालित कर रही है। उदारीकरण के पहले तक आर्थिकी राजनीति के इशारों पर काम करने के लिए मजबूर थी। लेकिन उदारीकरण के बाद राजनीति आर्थिकी की उंगलियों पर नाचने के लिए मजबूर है। हालांकि इसे वह अपनी प्रगतिवादी सोच के तौर पर पेश करती है।

इसीलिए जब आर्थिकी पर किसी ममता बनर्जी की राजनीति हावी होने की कोशिश करती है तो उसे सवालों के घेरे में खड़ा कर दिया जाता है। उसे दकियानूसी बताने में भी नवमीडिया और दुनिया पीछे नहीं रहती। नई आर्थिकी को समाज के हाशिए और निचले पायदान पर खड़े लोगों की चिंता नहीं है। हालांकि वह कॉरपोरेट सोशल रिस्पांसबिलिटी के नाम पर वंचित वर्ग की हिमायती होने का दावा भी करती है।

हालांकि, नई आर्थिकी और उसके पैरोकार भी जानते हैं कि सिर्फ कॉरपोरेट सोशल रिस्पांसबिलिटी से वंचितों की दुनिया में उजाला नहीं लाया जा सकता। यूरोपीय और दूसरे विकसित देशों में विकास का न्यूनतम आधार तो कम से कम हासिल किया जा चुका है। लेकिन भारत जैसे देश में ऐसा नहीं हो पाया है। वह दुनिया की आर्थिक ताकत बनने की दौड़ में तेजी से आगे बढ़ रहा है। दुनिया का एक हिस्सा इसे स्वीकार भी करने लगा है। लेकिन यह भी सच है कि यहां अब भी वंचितों का इतना बड़ा तबका मौजूद है, जिसे जीवन की सहूलियतें हासिल नहीं हैं। लेकिन यह तबका आर्थिक महाशक्ति बनने और दुनिया से स्वीकार्यता हासिल करने में बड़ी बाधा भी है। लिहाजा इस तबके की संख्या को कम करके दिखाने की कवायद काफी पहले से जारी है।

इसी कवायद का ही हिस्सा है कि योजना आयोग ने गरीबी के नए मानक पेश किए हैं। 19 मार्च को योजना आयोग ने जो आंकड़े जारी किए, उनके अनुसार साल 2009-2010 के आधार के मुताबिक गरीबों की संख्या में गिरावट आई है। इस आंकड़े के मुताबिक पिछले पांच साल के दौरान देश में गरीबी 37.2 फीसदी से घटकर 29.8 फीसदी पर आ गई है। जाहिर है इस पर विवाद होना ही था। मंगलवार 20 मार्च को संसद के दोनों सदनों में हंगामा हुआ और बुधवार 21 मार्च को लोकसभा में यह मसला जनता दल यू के अध्यक्ष शरद यादव ने तीखे स्वर में उठाया। जिस पर चर्चा करते हुए विपक्ष की नेता सुषमा स्वराज ने सरकार की मंशा पर ही सवाल उठा दिए। वैसे यह पहला मौका नहीं है, जब योजना आयोग ने ऐसे मानक पेश किए हैं। इसके पहले 2008 की आर्थिक मंदी के लिए मोंटेक सिंह अहलूवालिया ने तेज आर्थिक विकास को ही जिम्मेदार ठहरा दिया था।

आखिर आंकड़ों के इन चक्करों से क्या होने वाला है। क्योंकि गरीब को तो पहले की ही तरह मरना और खपना है। लेकिन बात इतनी सी नहीं है। अगर इन आंकड़ों और मानकों को मंजूर कर लिया जाएगा तो तय है कि भविष्य की कल्याणकारी योजनाएं इसी आधार पर बनेंगी। तब राज्य से सहायता पाने का हकदार वह शहरी व्यक्ति नहीं होगा, जिसकी रोजाना की आमदनी 28 रुपए 65 पैसे होगी। इसी तरह गरीबों की योजनाओं का वह ग्रामीण भी फायदा नहीं उठा पाएगा, जिसकी रोजाना की आमदनी 22 रुपए 42 पैसे होगी।

अगर संसद के सदनों में इन मानकों पर सवाल उठ रहे हैं तो इसकी भी वजह यही है। संसदीय लोकतंत्र में ये उलटबांसियां ही हैं कि जनता राजनीतिक दलों को सबक सिखा रही है। नई आर्थिकी के चलते चाहे जितना भी विकास हुआ हो, लेकिन यह भी सच है कि निचले पायदान और समाज के हाशिए पर पड़े लोगों का खास कल्याण नहीं हो पा रहा है। दरअसल, जनता अपने फैसले के जरिए बार-बार यही जताने की कोशिश कर रही है कि राजनीति पूरी तरह नई आर्थिकी पर आश्रित न हो। लेकिन राजनीति जैसे कदम उठा रही है, उससे नहीं लगता कि उसने सबक लेने की कोशिश की है। योजना आयोग के ताजा मानक भी इसी का उदाहरण हैं।

uchaturvedi@gmail.com

जातीय उत्पीड़न परंपरा के बीज

विमर्श

ओपी सोनिक

हाल ही में अहमदाबाद में गुजरात विश्वविद्यालय के कुलपति द्वारा एक दलित लेक्चरर का जातीय उत्पीड़न करने के मामले में हाई कोर्ट ने पुलिस को कार्रवाई करने के आदेश दिए हैं। दलित लेक्चरर ने वर्ष 2008 में पुलिस में मामला दर्ज कराना चाहा था। जब पुलिस ने मामला दर्ज न किया तो, उक्त लेक्चरर को हाई कोर्ट का दरवाज़ा खटखटाना पड़ा था। ऐसे ही एक दूसरे मामले में हरियाणा में हिसार जिले के दौलतपुर गांव में एक दलित मजदूर ने सवर्ण के मटके से पानी पीने की जुर्रत की, तो पहले उसकी जाति पूछी और फिर उसका हाथ काट दिया गया। जिस समाज में राहगीरों की प्यास बुझाने के लिए प्याऊ बनवाने की परंपरा रही है, उसी समाज में सवर्ण के मटके से किसी दलित के पानी पी लेने पर हाथ काटने की बर्बर जातिवादी मानसिकता भी मौजूद है। आंध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, झारखंड, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और हरियाणा दलितों एवं आदिवासियों पर अत्याचार की सर्वाधिक आशंका वाले क्षेत्रों की सूची में शामिल हैं।

केंद्रीय सरकार ने अत्याचार से पीड़ित दलितों एवं आदिवासियों को मिलने वाली सहायता राशि में वृद्धि की है। पीड़ितों एवं आश्रित सदस्यों को मिलने वाली राशि 20 हजार से ढाई लाख रुपए के बजाय 50 हजार से 5 लाख रुपए कर दी है। कमाने वाले व्यक्ति की हत्या होने पर मुआवजा 2 लाख से बढ़ाकर 5 लाख और गैर कमाऊ व्यक्ति के मामले में एक लाख से बढ़ाकर ढाई लाख रुपए, यौन शोषण के मामलों में 50 हजार से बढ़ाकर एक लाख 20 हजार और अन्य मामलों में सहायता राशि 25 हजार से बढ़ाकर 60 हजार रुपए कर दी गई है। जब उक्त वर्ग में किसी की हत्या या बलात्कार होता है, तो सरकारें आर्थिक सहायता राशि देने में जितनी तत्परता दिखाती हैं, पीड़ितों को न्याय और दोषियों को सजा दिलाने में उतनी ही उदासीन रहती हैं। आलम यह है कि दलितों की अस्मिता और अधिकारों की रक्षा का दावा करने वाले राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग की वर्ष 2004-05 के बाद वार्षिक रिपोर्ट तक जारी नहीं हुई है।

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की रिपोर्ट 'क्राइम इन इंडिया-2010' के आंकड़ों के अनुसार दलितों की हत्याओं के मामलों में कमी आई है। 2009 में दलितों की हत्या के 624 मामले 2010 में घटकर 570 रह गए। इनमें उत्तर प्रदेश में 229, मध्य प्रदेश में 102, राजस्थान में 56, आंध्र प्रदेश में 43 और महाराष्ट्र में 24 मामले दर्ज हुए। हैरानी की बात है कि करीब 24 प्रतिशत दलित आबादी वाले पश्चिम बंगाल में इस दौरान दलित हत्या का एक भी मामला दर्ज नहीं हुआ। बलात्कार के कुल 1349 मामलों में मध्य प्रदेश में 316, उत्तर प्रदेश में 311, राजस्थान में 200, आंध्र प्रदेश में 100, और महाराष्ट्र में 89 मामले दर्ज हुए। दलितों के अपहरण एवं व्यपहरण के कुल 511 मामलों में उत्तर प्रदेश में 248, मध्य प्रदेश में 69, राजस्थान में 51, महाराष्ट्र में 25 और बिहार में 20 मामले दर्ज हुए। घर जलाने के कुल 150 मामलों में राजस्थान में सर्वाधिक 31, उत्तर प्रदेश में 29, आंध्र प्रदेश में 17, बिहार में 15, और महाराष्ट्र में 12 मामले दर्ज हुए। यहां यह कहने की जरूरत नहीं कि जितने मामले पुलिस में दर्ज होते हैं, उनसे अधिक मामले ऐसे होते हैं जो पुलिस फाइलों का हिस्सा बन ही नहीं पाते हैं।

- 2010 में दलित उत्पीड़न के 7 प्रतिशत मामलों में सजा दी गई। 13 फीसद मामलों में आरोपियों को दोषमुक्त कर दिया गया। 79 फीसद मामले कोर्ट में लंबित रहे
- आदिवासी उत्पीड़न के 4.5 फीसद मामलों में सजा सुनाई गई। 13 प्रतिशत आरोपियों को दोषमुक्त कर दिया गया 80 प्रतिशत मामले लंबित रहे
- दबंगों के भय और आतंक के सामने दलित-आदिवासियों के पक्ष में लोग गवाही देने का साहस नहीं जुटा पाते हैं

2009 में आदिवासियों की हत्याओं के कुल 118 मामले दर्ज हुए थे, जो वर्ष 2010 में बढ़कर 142 हो गए। इनमें से मध्य प्रदेश में सबसे ज्यादा 47, छत्तीसगढ़ में 24, राजस्थान में 21, झारखंड में 10, महाराष्ट्र में 9, गुजरात में 8, आंध्र प्रदेश में 7 मामले दर्ज हुए। बलात्कार के कुल 654 मामलों में सबसे ज्यादा मध्य प्रदेश में 308, छत्तीसगढ़ 112, महाराष्ट्र में 46, राजस्थान में 42, और आंध्र प्रदेश में 41 मामले दर्ज हुए। अपहरण और वसूली के कुल 84 मामलों में मध्य प्रदेश में 30, छत्तीसगढ़ में 15, गुजरात में 13 और में महाराष्ट्र में 8 मामले दर्ज हुए। अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 के तहत दलित उत्पीड़न के कुल 10513 मामलों में बिहार में सबसे ज्यादा 2548, आंध्र प्रदेश में 1509, उत्तर प्रदेश में 1328, कर्नाटक में 1292, तमिलनाडु में 1255, और उड़ीसा में 1224 मामले दर्ज हुए। आदिवासियों के प्रति कुल 1169 मामलों में उड़ीसा में 355, आंध्र प्रदेश में 225, कर्नाटक में 168, छत्तीसगढ़ में 132, झारखंड में 75 और महाराष्ट्र में 55 मामले दर्ज हुए।

माना जाता है कि कानून के हाथ लंबे होते हैं, पर उक्त वर्ग के मामलों में कानून के हाथ छोटे साबित हो रहे हैं। 2010 में दलित उत्पीड़न के 7 प्रतिशत मामलों में सजा दी गई और 13 प्रतिशत मामलों में आरोपियों को दोष मुक्त कर दिया गया। 79 प्रतिशत मामले कोर्ट में लंबित रहे। आदिवासी उत्पीड़न के 4.5 प्रतिशत मामलों में सजा सुनाई गई और 13 प्रतिशत आरोपियों को दोषमुक्त कर दिया गया। 80 प्रतिशत मामले लंबित रहे।

दबंगों के भय और आतंक के सामने दलित-आदिवासियों के पक्ष में लोग गवाही देने का साहस नहीं जुटा पाते हैं। हत्या, बलात्कार जैसे संगीन मामलों में सबूत जुटाने की मुख्य जिम्मेदारी पुलिस की होती है। पर अधिकांश मामलों में पुलिस पैसा या पहुंच के आधार पर कार्रवाई करती है और कानून गवाहों और सबूतों के दम पर आगे बढ़ता है।

पुलिस, पैसा, और पहुंच के चक्र में फंसकर सामाजिक न्याय का लक्ष्य अधूरा रह जाता है। मरने के बाद भी जातिवाद पीछा नहीं छोड़ता। यही कारण है कि अधिकतर गांवों में दलितों के अंतिम संस्कार के लिए शमशान घाट अलग होते हैं। प्रायः दलितों को मंदिर में प्रवेश कराने के लिए संबंधित गांव को छावनी में बदलना पड़ता है। उक्त वर्ग के उत्पीड़न के मामलों के लिए हर जिले में विशेष अदालतें स्थापित होने चाहिए। पर अभी तक करीब एक चौथाई जिलों में ही ऐसी अदालतें गठित हो पाई हैं। दलितों ने सवर्णों की जातीय उच्चता को चुनौती देने के लिए सवर्णवादी तरीका खोज निकाला है। दलितों में भी जोशी, शुक्ला, कौशिक, पाठक, गुप्ता आदि उपनाम लगाने का चलन बढ़ रहा है।

लोजपा नेता रामविलास पासवान ने एक लेख में जानकारी दी थी कि छत्तीसगढ़ में दलित एवं आदिवासी वर्ग के 17 जिला जजों को बिना कारण बताए बर्खास्त कर दिया गया। पिछले वर्ष मद्रास हाईकोर्ट के एक दलित जज ने साथी जजों पर जातीय उत्पीड़न का आरोप लगाते हुए राष्ट्रीय अनुसूचित जाति-जनजाति आयोग में शिकायत दर्ज कराई थी।

भारत ने आजादी के साठ से अधिक वसंत देखे हैं, पर एक भी ऐसा स्वतंत्रता या गणतंत्र दिवस नहीं देखा, जब किसी दलित को राष्ट्रीय ध्वज फहराने से न रोका गया हो। दक्षिण भारत में गत गणतंत्र दिवस पर एक दलित महिला पंचायत अध्यक्ष को दबंगों ने राष्ट्रीय ध्वज फहराने नहीं दिया। जाति की जिस जड़ता को उखाड़ फेंकने के लिए हमने जनतंत्र को अपनाया था, आज उसी जड़ता के कारण जनतंत्र जातितंत्र में तब्दील हो गया है।

स्वतंत्रता संग्राम की अगुवाई वाली कांग्रेस को, यूपी में चुनाव प्रचार के दौरान टेलीकॉम क्रांति के जनक सत्यनारायण गंगाराम उर्फ सैम पित्रोदा की जाति बढ़ई बतानी पड़ती है। आजादी के नाम पर हमने राजनीतिक लोकतंत्र का ढांचा तो खड़ा कर लिया है, पर बड़ा सवाल है कि उसमें सामाजिक लोकतंत्र की प्राण-प्रतिष्ठा कब स्थापित होगी। यहां यह साफ होना जरूरी है दलितों के मामले में गैरबराबरी की मानसिकता से सरकारी के साथ सामाजिक तौर पर भी लड़ने की दरकार है। कानून और व्यवस्था की चुस्ती के साथ अगर सामाजिक जागरूकता नहीं आएगी तो हम ऐसे समय और समाज की कल्पना नहीं कर सकते, जहां सभी वर्ग, जाति और जमात के लोग एक साथ एक पांत में खड़े हो सकें।

अपने अधिकार से वंचित क्यों हैं आदिवासी

भारत डोगरा

लेखक टिप्पणीकार हैं।

सरकार ने आदिवासियों को जमीन पर कब्जा दिलवाने के कई अभियान चलाए हैं, पर मौके पर कब्जा दिलवाया नहीं जाता। मात्र कागज ही दे दिए जाते हैं। आदिवासी किसानों को जमीन पर कब्जे के साथ ही उन्हें लघु सिंचाई भी उपलब्ध हो।

कानून में आदिवासियों के भूमि-अधिकारों की रक्षा की कई व्यवस्थाएं हैं, पर इन सबका उल्लंघन करते हुए बड़े पैमाने पर आदिवासियों की जमीनें छिन रही हैं। भूमि हथियाने वाले अनेक भू-माफिया सक्रिय हैं, जो राजनीतिक व आर्थिक स्तर पर बहुत शक्तिशाली हैं। इसके अतिरिक्त कहीं राष्ट्रीय पार्क, कहीं खनन तो कहीं उद्योग, कहीं शहरीकरण तो कहीं हाईवे व कहीं बड़े बांधों के नाम पर आदिवासियों की जमीनें छिन रही हैं।

भू-मफियाओं को पहले ही पता चल जाता है कि कहां हाईवे आदि बनने वाले हैं, वे पहले ही सस्ते दाम पर आदिवासियों की जमीन हथियाने के लिए सक्रिय हो जाते हैं। कानूनों के उल्लंघन के लिए कई हथकंडे अपनाए जाते हैं। आदिवासियों के नाम पर भूमि खनन के लिए प्राप्त की जाती है। पर वास्तविक खनन बाहर के बड़े सेठ करते हैं। कुछ स्थानों पर बाहरी व्यक्ति आदिवासी युवतियों से विवाह केवल भूमि हथियाने के मकसद से करते हैं।

अभ्यारण्य क्षेत्रों में आदिवासी हक पहले भी सीमित किए गए, पर अब कुंभलगढ़ में अभ्यारण्य के स्थान पर राष्ट्रीय पार्क बनने से उनकी स्थिति और विकट हो रही है। इस राष्ट्रीय पार्क क्षेत्र में उदयपुर के 23, राजसमंद के 64 व पाली जिले के 41 यानी कुल 128 गांव आ रहे हैं। इस तरह बड़े पैमाने पर विस्थापन का नया खतरा उत्पन्न हो रहा है। जबकि पहले से बने अभ्यारण्यों के निकटवर्ती इलाकों में बाहरी लोग आकर जमीन हथिया रहे हैं।

सरकार ने आदिवासियों को जमीन पर कब्जा दिलवाने के कई अभियान चलाए हैं, पर प्रायः मौके पर कब्जा दिलवाया नहीं जाता। मात्र कागज ही दे दिए जाते हैं या सीमा ज्ञान करवा दिया जाता है। जबकि जरूरत इस बात की है कि आदिवासी किसान वास्तव में जमीन पर कब्जा कर उसे जोतना शुरू करें तथा साथ ही उन्हें लघु सिंचाई भी उपलब्ध हो।

वर्ष 2006 में आदिवासी वन-अधिकार कानून पास होने पर जो बड़ी उम्मीदें जगी थीं वे सही क्रियान्वयन के अभाव में अब धूमिल होती जा रही हैं। इसकी एक बड़ी वजह यह है कि बहुत से आदिवासियों व अन्य परंपरागत वनवासियों के जायज दावों को भी खारिज कर दिया गया। इस तरह के निर्णय के विरुद्ध यह परिवार समय पर अपील भी नहीं कर सके, क्योंकि उन्हें दावा स्वीकार न करने की सूचना ही नहीं दी गई।

जो दावे स्वीकार हुए माने गए हैं, उनमें से भी अधिकांश में प्रायः स्वीकृति आधी-अधूरी दी गई है। यदि कोई आदिवासी परिवार पहले पांच बीघा पर खेती कर रहा था व अब उसकी एक बीघा की मान्यता स्वीकार की जाती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि चार बीघे से तो उसे हटना पड़ेगा। यदि वह नहीं हटेगा तो फिर पहले जैसे स्थिति ही बन जाएगी कि उसके कब्जे को अवैध माना जाएगा, उसे डराया धमकाया जाएगा, प्रताड़ित किया जाएगा या रिश्वत ली जाएगी।

आदिवासियों से अलग जो अन्य परंपरागत वनवासी चिन्हित हुए हैं उनके दावे तो लगभग पूरी तरह अस्वीकृत हो रहे हैं। कुछ जिलों में अधिकांश दावे अस्वीकृत हो गए हैं। सामूहिक हकदारी संबंधी लगभग सारे दावे अस्वीकृत हो गए हैं। पहले जहां मवेशियों, पशु-पालकों के पशुओं को रहने-चरने का स्थान मिल जाता था अब उन स्थानों पर वन विभाग दीवार बनाकर सामूहिक हकदारी को समाप्त कर रहा है।

प्रायः कानून की मूल भावना का उल्लंघन हो रहा है। ग्राम सभा को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया जा रहा है। जनजातीय विभाग की अपेक्षा वन विभाग अधिक हावी हो गया है। जबकि कानून में वन विभाग को निर्णायक भूमिका नहीं दी गई है। सवाल यह है कि जिस कानून से आदिवासी व वन वासी समुदायों को अपनी किसानी सुधारने की बड़ी उम्मीद थी, यदि उसके अनुचित क्रियान्वयन से अनेक परिवारों व समुदायों की स्थिति और बिगड़ जाए तो इससे आदिवासियों में असंतोष कितना बढ़ सकता है।

अतः यह बहुत जरूरी है कि आदिवासियों के भूमि अधिकारों व आजीविका रक्षा संबंधी अन्य कानूनों का मजबूती से पालन किया जाए। जैसा कि हाल में आयोजित एक जन सुनवाई में कई वक्ताओं ने कहा कि यदि मौजूदा कानूनों को ही उनकी सही भावना के अनुकूल लागू कर दिया जाए तो इससे आदिवासियों के भूमि अधिकारों व आजीविका की रक्षा काफी हद तक हो सकती है।

नोट : देश्वी सुनी के विषय में अपने सुझाव, संस्था व कार्य में इसकी उपयोगिता और अपनी प्रतिक्रिया अवश्य भेजें। ताकि हम आपके लिये इसका प्रकाशन व वितरण ज़ारी रख सकें।

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें –
जागोरी बी–114 शिवालीक मालवीय नगर, नई दिल्ली–110017,
फ़ोनः 26691219, 26691220
email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org

ICCO-Misereor के सहयोग से प्रकाशित